इस पुस्तक में भारत के महिला आंदोलन की संक्षिप्त रूपरेखा पेश की गई है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक की लम्बी यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव रोचक तरह से आपके सामने रखे गए हैं। महिला आंदोलन के इतिहास, इसकी सोच, इसके पात्र, मुद्दों और तरीकों के बारे में ठोस जानकारियाँ देना, इसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा व आगे की चुनौतियों पर गौर करना-यही है इस पुस्तक का मकसद।

प्रकाशक : सम्पूर्णा ट्रस्ट, नई दिल्ली

भारतीय महिला आंदोलन

कल आज और कल

दीप्ति प्रिया महरोत्रा

सहयोग राशि : 50 रुपये

सर्वाधिकार : दीप्ति प्रिया महरोत्रा

प्रकाशन वर्ष : 2001

प्रकाशक :

सम्पूर्णा ट्रस्ट,

बी-26, स्वामी नगर, नई दिल्ली-110 017

(प्रतियाँ इस पते से उपलब्ध हैं)

फ़ोटो : सर्वेश (पेज 4), प्रवीण कुमार (पेज 47), दीप्ति (अन्य)

कविताएँ व गाने : दुष्यंत कुमार (पेज 1), शांति (पेज 95), कमला भसीन व जागोरी (अन्य)

विशेष सम्पादन : प्रीतवंती महरोत्रा

कम्प्यूटर डिज़ाइनिंग : संजय

मुद्रक : शिवा ग्राफ़िक्स
के-128, रणजीत सदन, मोहम्मदपुर,
नई दिल्ली-110 066, दूरभाष : 6173123

आभार

यह पुस्तिका उस 'आम' औरत को समर्पित, जो खास है, और उस 'खास' औरत को, जो आम है! आंदोलन के अनगिनित स्रोत हैं। जगह-जगह पर "हो गई है पीर पर्वत-सी, पिघलनी चाहिए, इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए ..."।

सहस्र धाराओं व उमड़ते सागर को चंद पन्नों में भर पाना सम्भव नहीं। कोशिश करने की जुर्रत की है, तो माफ़ी भी मांग रही हूँ : उन सभी आंदोलनकर्मी साथियों व समूहों से जिन्हें प्रस्तुत लेख में उचित स्थान नहीं मिल पाया।

यह लेख मात्र एक पहल है। नारी आंदोलन ने सींचा, तो यह अंकुर फूटा। सार्थक साबित होता है, तो आगामी वर्षों में अनेकानेक दस्तावेज, जीवनियाँ, विचारधाराओं और गतिविधियों को प्रस्तुत करने का प्रयास रहेगा।

सभी जाने-अनजाने साथियों को मेरी ओर से धन्यवाद। और नई पीढ़ी की नई चेतना को लाल सलाम : "मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही, हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए!..."



विषय-सूची

परिचय

नौ मार्च को सुबह अख़बार खोला तो क्या देखती हूँ--अंदर के एक पृष्ठ पर रशीदा, ललिता, रेश्मा, नंदिता, हरजिंदर, मेरी, जयंती, शबनम आपा इत्यादि हाथों में बैनर लिए, ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने की मुद्रा में मौजूद हैं। घर पर मौसी आई हुई थीं, अखबार में झाँककर बोलीं ''क्या चिल्ला रही हैं ये? घर-बार छोड़कर, काम-काज छोड़कर, सड़क पर आकर चिल्लाने की क्या सूझी है इन्हें?''

मेरी बेटी लीला ने भी उत्सुकता व्यक्त की। मैंने कहा, ''पढ़कर देखते है''।

फिर हम मिलकर पढ़ने लगे बैनरों पर लिखे वाक्य : 'औरतों पर हिंसा बंद करो, बंद करो!,' 'हम भारत की नारी हैं, फूल नहीं चिनगारी हैं!,' 'मार-पीट नहीं सहेंगे, नहीं सहेंगे।'

बिटिया के मन में प्रश्न तो उठे होंगे किन्तु स्कूल जाने का समय था। झट से दूध-नाश्ता खाया, बस्ता उठाया और चली गई। मौसी अख़बार की ख़बर आगे तक पढ़ती गई। बोली, ''सही कदम उठा रही हैं। मार-पीट और दहेज-बलात्कार हद से बाहर निकल चुके हैं। चैन से जीना मुश्किल हो गया है आज...... परन्तु सड़क पे जाकर मोर्चा निकालने से तो यह सब बंद नहीं होगा!''

उनकी बात सोलह आने सच लगी। सिर्फ़ मोर्चे निकालने से ज़ुल्म समाप्त नहीं होंगे। फिर सोचा, परन्तु मोर्चा तो केवल प्रतीक है। अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवास आठ मार्च पर मिलकर महिलाओं ने अपना रोष इस माध्यम द्वारा प्रकट किया है, किन्तु हिंसा के खिलाफ़ महिलाओं की लड़ाई तो मोर्चों तक सीमित नहीं है। इस लड़ाई के कई और आयाम भी हैं। मैं मौसी को महिला संगठनों के विविध कार्यक्रमों के बारे में बताने लगी। उनकी रुचि बढ़ती गई। बहुत देर तक हम दोनो में चर्चा होती रही।....

उस दिन मेरे मन में दबी-छुपी एक आकांक्षा उभरकर सामने आ खड़ी हुई। एक तमन्ना जाग उठी : कि इन 'आंदोलन-वाली महिलाओं' व उनके लक्ष्यों के बारे में बाकी दुनिया को कुछ बताऊँ। महिला आंदोलन के साथ गुंथी हैं हज़ारों ज़िंदगियाँ। लाखों-करोड़ों आशाएँ-अभिलाषाएँ इस आंदोलन के साथ जुड़ चुकी हैं। इसके ताने-बाने को हमारे देश की करोड़ों बहनों ने

बुना है। इसमें अपने आँसू के मोती भी पिरो दिये हैं, और सपनों के सल्मे सितारे भी। प्रयास किया है कि आंदोलन की आँच में परेशनियाँ जलकर राख हो जाएँ, दर्द पिघलकर बह जाएँ। समकालीन भारत के सामाजिक व राजनैतिक परिवेश में महिलाओं ने जगह-जगह पर एकजुट होकर अपने खास मुद्दे सबके सामने रखे हैं। संघर्ष छेड़े हैं। महिला आंदोलन ने अपना एक जीता-जागता अस्तित्व बना लिया है। तब भी, इस आंदोलन के बारे में अनेक शंकाएँ, गलतफ़हमियाँ व मिथ्या अवधारणाएँ फैली हुई हैं।

एक-आध बार नहीं, दर्जनों बार हमने अपने महिला आंदोलन के बारे में व्यंग्य सुना है, कटाक्ष झेला है। परन्तु वास्तविकता कई बार लोगों से छुपी रहती है। इस प्रगतिवादी आंदोलन के बारे में ठोस और सही जानकारी कम ही मिलती है। न इसके मुद्दों और लक्ष्यों पर उपयुक्त चर्चा होती है। कच्ची, अधपकी जानकारियाँ फैली हुई हैं। जिनके आधार पर यदि कोई समझ बनती है तो कच्ची अधपकी ही बन सकती है।

इसीलिए इस छोटी-सी पुस्तक की आवश्यकता महसूस हुई है। भारतीय महिला आंदोलन के अनेक आयामों से आपका परिचय कराने का यह एक प्रयास है। महिला आंदोलन के इतिहास, इसकी सोच, इसके पात्र, मुद्दों और तरीकों के बारें में कुछ ठोस जानकारी देना, इसकी समीक्षा व चुनौतियों पर गौर करना-- यही है इस पुस्तिका का मकसद।



अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर दिल्ली के विभिन्न संगठनों का समन्वय

पहला अध्याय

संदर्भ और बुनियाद

आज केवल भारत ही नहीं, पुरी दुनिया संकट के दौर से गुज़र रही है। संकट बहु-आयामी हैं। इसके सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक पहलू हैं। समाज के मौलिक ढांचों में कूट-कूटकर असमानता भरी हुई है। असमानताएँ बढ़ती जा रही हैं--अमीर-गरीब के बीच, गोरे-काले के बीच, मर्द-औरत के बीच। असंतोष और क्रोध की लहरें फैलती जा रही हैं। सर्व-व्यापी संकट का प्रभाव हर व्यक्ति पर नज़र आता है। समाज और देश के स्तर पर भी टूटन, बिखराव और हिंसा ने जो़र पकड़ लिया है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यही हाल है। ऐसे संकट के काल में महिलाओं की संगठित शक्ति का एक खास महत्त्व है। महिला शक्ति का योगदान बहु-स्तरीय और व्यापक हो सकता है। स्थितियाँ सुधारने की राह खोजने में महिलाएँ कुछ खास सहायता कर सकती हैं।

कई बार प्रश्न उठता है कि क्या 'महिला आंदोलन' केवल महिलाओं के लिए है? नहीं--यह अवधारणा सही नहीं है। असल में महिलाओं का आंदोलन एक बेहतर समाज व दुनिया के लिए है। यह आंदोलन 'अपने' लिए तो है ही, परन्तु इसकी सीमा यहीं नहीं। 'अपनी आज़ादी' के लिए जागरूक महिलाएँ बच्चों, परिवारों और समुदायों की आज़ादी के लिए भी अपनी आवाज़ उठा रही हैं। 'अपनी' भलाई के लिए उठे कदम में ख़ालिस स्वार्थ नहीं है, बल्कि इसमें निहित है सब की भलाई। इन कदमों में मौजूद हैं मानव-जाति के लिए व्यापक और सार्थक परिवर्तन के बीज, समाज-व्यवस्था में न्याय, सामंजस्य और संतुलन की खोज। 'सब के लिए' बेहतर दुनिया गढ़ना-- यह सपना संजोया है संघर्षरत अनेक महिलाओं ने।

भारतीय महिला-आंदोलन दुनियाभर में अपनी ख़ास पहचान बनाए हुए है। दलित, श्रमिक, किसान, शहरी, ग्रामीण, मध्यम-वर्गीय - सभी तबकों की महिलाएँ इसमें शामिल हैं कहीं न कहीं! ज़ाहिर है कि अलग तबकों, वर्ग व जाति की महिलाओं की स्थिति में काफ़ी अंतर है। प्रत्येक वर्ग की महिलाएँ अपने खास अनुभव साथ लाती हैं। विचार-विमर्ष व

आदान प्रदान द्वारा आपस में अपनी खास बातें रखी जा सकती हैं। एक दूसरे की स्थिति व संघर्ष को समझना, एकजुट होकर मोर्चे बांधना व अपनी मांगों को व्यक्त करना यह है महिला आंदोलन का प्रयास।

यह रास्ता आसान नहीं। महिलाओं की स्थिति समस्त सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का एक पहलू है। अत: जब तक विस्तृत व गहरे परिवर्तन नहीं हो पाते तब तक महिलाओं के लिए अपने लक्ष्य पूरी तरह से हासिल कर पाना नामुमकिन है।

कहीं न कहीं कुछ समस्याओं का हल निकलता भी है तो वैसी ही समस्याएँ कई अन्य स्थानों पर उभरती दिखती हैं। एक महिला के घरेलू जीवन में लम्बे संघर्ष और सत्याग्रह के उपरान्त यदि हिंसा कम होकर कुछ शांति आती है, तो उसी समय हज़ारों घरों में हिंसा की ज्वाला उतनी ही तीव्रता से धधकती रहती है। यदि कोई पचास महिलाएँ मिलकर सहकारी समिति और बचत-योजना द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति सम्भाल लेती हैं, फिर भी पूरे समाज में महिलाओं की गरीबी बढ़ती ही जा रही है। एक वर्ग की स्थिति सुधरती, दूसरों की बिगड़ती नज़र आती है। इस जटिल स्थिति में महिला आंदोलन के लिए आवश्यक है बहु-आयामी होना। आंदोलन कई स्तरों पर कार्यरत है। व्यापक परिवर्तन लाने के लिए पहले ज़रूरी है व्यापक सोच। आंदोलन को व्यक्ति व समूह दोनों को छूना होगा। बौद्धिक तथा व्यवहारिक, सभी स्तरों पर प्रभावशाली होना पड़ेगा।

स्वाभाविक है कि आंदोलन के अंदर अनेक मत होंगे, और मतभेद भी। अलग-अलग राय होंगी, अनेक सोच व विचारधाराएँ। अंदरूनी भेद भी होंगे। एक-दूसरे के बारे में शक भी हैं, और समझने-जानने के प्रयास भी। इकठ्ठा मिलकर सम्मिलित सोच गढ़ने के प्रयत्न हैं, और कई मुद्दों पर सम्मिलित अभियान छेड़ने की पहल भी। कुल मिलाकर आंदोलन-कर्ताओं के बीच परस्पर चर्चा और वार्तालाप कायम रखना बेहद आवश्यक है।

यही नहीं, महिला आंदोलन के लिए ज़रूरी है 'अन्य' सामाजिक-राजनैतिक आंदोलनों के साथ रिश्ता बनाए रखना। आज देश-विदेश के मंचों पर महिला आंदोलन की अपनी एक पहचान है। महिलाएँ 'अन्य' मुद्दों के साथ अंतरंग सम्बंध रखती हैं। हर 'अन्य' 'प्रगतिवादी' आंदोलन में महिलाओं की भागेदारी रहती है। वे हर संघर्ष का अभिन्न अंग हैं। भारतीय महिला आंदोलन का इतिहास आरम्भ से ही दलित-श्रमिक किसान महिलाओं के इतिहास के साथ जुड़ा रहा है। वर्ग, जाति और लिंग-भेद का बोझा ढोती 'आखिरी' महिला जब

बोल उठती है, तब नींव हिलने लगती है, धरती काँपती है, सब ढाँचे चरमरा जाते हैं।

आज भारत के महिला आंदोलन में विभिन्न धाराएँ नज़र आती हैं--नारीवादी 'स्वायत्त' महिला संगठन एक ओर हैं, तो दूसरी ओर वामपंथी महिला संगठन। गाँधीवादी महिला संस्थाएँ भी हैं, और धर्म व आध्यात्म से सम्बंधित अनेक महिला संघ। 'सुधारवादी' से लेकर 'क्रांतिकारी' महिलाएँ, और महिला संगठन हैं। महत्त्वपूर्ण है कि इन भिन्न पात्रों के बीच सेतु बांधने के कई प्रयास चल रहे हैं। अपनी विशेष परिस्थितियों से जूझते हुए अनेक संगठन व्यावहारिक तौर पर कई बार एक-दूसरे का समर्थन करते हैं। सम्मिलित शक्ति व प्रयत्न द्वारा संघर्षरत महिलाएँ विशेष मुद्दों व पड़ावों पर जीत भी हासिल करती हैं। किन्तु रास्ता बहुत लम्बा है, पड़ाव कई हैं-- कदम से कदम मिलाना हमेशा आसान नहीं है।

इन विचारधाराओं में अंतर जरूर है, और मतभेद भी। वामपंथी व साम्यवादी महिला संगठन वर्ग के प्रश्न को सर्वप्रथम मानते हैं। लिंग के प्रश्न को महत्त्व देते हैं, परन्तु इतना कतई नहीं जितना कि वर्ग के प्रश्न को।

इसके विपरीत 'नारीवादी' संगठन लिंग के प्रश्न को उतना ही गहन मानता है जितना कि वर्ग या जाति के प्रश्नों को।

'गांधीवादी' विचारधारा में महिलाओं के मुद्दों को कुछ दूसरी ही तरह से देखा गया है। 'औरत' और 'पुरुष' दोंनों का अपना-अपना 'स्व-धर्म' माना गया है। जहां एक ओर इस सोच द्वारा लिंग-आधारित श्रम-विभाजन व लिंग-आधारित भूमिकाएं मजबूत होती हैं, वहीं दूसरी ओर आम महिलाओं की भूमिकाओं को सम्मान मिलता है। गौरतलब है कि गांधी ने बताया था कि 'सत्याग्रह' का राजनैतिक औज़ार उन्होंने देश की आम महिलाओं से ही सीखा है। अत: गांधीवाद में एक प्रकार का 'देसी नारीवाद' खोजा जा सकता है। जिसमें आम महिलाओं की खूबियों का समझा गया है, और पुरुष भी महिलाओं से सीखें-- यह सुझाव है।

मौजूदा नारी आंदोलन में किस-किस तरह अनेक विचारधाराओं के तहत व्यावहारिक तौर पर गुट बने हैं, इसका विवरण आगे के अध्यायों में है। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि कोई एक विचारधारा सर्वोपरी नहीं बन पाई है। अनेक महिलाएं प्रत्येक धारा से जुड़ गई हैं। और, विचारधारा पृथक होने के बावजूद महिला दमन व महिला शोषण के खिलाफ़ कई मंचों पर एकजुट हो जाती हैं ये महिलाएँ।

चाहे जिस भी विचारधारा से जुड़े हों, किसी भी नारीवादी संगठन या संस्था के लिए एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है 'आम' महिलाओं के साथ सम्बंध जोड़ना। असल में महिला आंदोलन की नींव देशभर की लाखों-करोड़ों 'आम' महिलाओं ने ही रखी है। परन्तु नींव तो दिखती नहीं! जब से पितृसत्ता ने सामाजिक व्यवस्था को जकड़ लिया है, तभी से महिलाओं ने अपनी-अपनी तरह से विरोध व्यक्त किया है। यह विरोध कभी व्यक्तिगत तो कभी सामूहिक रहा है। इतिहासकारों ने लगातार इस विरोध को नकारा, नज़रंदाज़ किया, और छुपाया है। अतः इतिहास के ग्रंथों में महिला विरोध के उदाहरण व प्रमाण पाना दुर्लभ है। इतिहास में ही नहीं, वर्तमान में भी ज़गह-जगह महिला विरोध को दबाया-छुपाया जाता है, कुचलकर इसका नामो-निशान मिटाने की कोशिश रहती है।

आम महिलाओं की ज़िंदगी में इस आंदोलन की जड़ें हैं। अनौपचारिक रूप से महिलाएँ आपसी रिश्तों में पारस्परिक सहयोग का प्रदर्शन रोज़ करती हैं। चाहे जंगल में लकड़ी काटने महिलाएँ मिलकर जाएँ, या कुएँ से पानी भरने, खेत में मिलकर रोपाई करें या बच्चे के जन्म में सम्मिलित सहायता-- रोज़मर्रा की ज़िंदगी में महिलाएँ एक-दूसरे का साथ देती ही हैं। महिला समूह स्वतः ही समाज में मौजूद हैं। माँ-दादी-नानी-दीदी लड़की को बहुत सारे गुण और कौशल सिखलाते हैं। दुख-दर्द में महिलाएँ आपसी सहायता देती हैं। खुशियाँ बाँटती हैं। जानकारियाँ बाँटती हैं। रूढ़ीवादी समाज में महिलाएँ मायके और ससुराल के बीच का फ़ासला लांघते हुए एक जगह के तौर-तरीके और जानकारियाँ दूसरी जगह तक ले जाती हैं।

यदि साधारण महिलाओं के आपसी सहयोग में ही 'महिला आंदोलन' की जड़ें छिपी हैं, तो इन जड़ों को समझना होगा। जहाँ एक तरफ 'आंदोलन' के कार्यक्रम, प्रदर्शन, जलसे और मोर्चे ज़मीन के ऊपर मौजूद हैं और स्पष्ट नज़र आते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ आम महिला की ज़िंदगी में छिपे अनेकानेक संघर्ष किसी को नज़र ही नहीं आते।

औपचारिक तौर पर भारतीय महिला आंदोलन में सम्भवतः कुछ हज़ार या लाख महिलाएँ ही शामिल हैं। परन्तु वास्तविकता में इस आंदोलन से करोड़ों-करोड़ महिलाएँ जुड़ी हैं। इन्हीं के जोश, समर्थन व साहनुभूति के बल पर महिला आंदोलन टिका है। कभी-कभी यह समर्थन मौन होता है, कई बार अस्पष्ट। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह आंदोलन हवा में से तो पैदा नहीं हुआ है। पैदा हुआ है महिलाओं की दबी-कुचली ऊर्जा से, कुछ कर दिखाने की लालसा से। इसी समाज के साधारण से साधारण घरों मे पनप रहे हैं महिला आंदोलन

के बीज। विरोध की चिनगारियाँ भभक रही हैं देश की अनगिनत, अनाम महिलाओं के दिलो दिमाग में।

बुनियादी तौर पर महिलाएँ बच्चों के लालन-पालन, घरेलू कार्य व परिवार के भरण-पोषण में आपसी सहयोग निभाती आई हैं। रोज़मर्रा की आवश्यकताएँ जुटाने की प्रक्रिया में साथ निभाती आई हैं। अतः अनौपचारिक महिला समूह, और इनसे जुड़े हुए रिश्तों के जाल, सदियों से हर समाज में विद्यमान हैं। समुदाय बरकरार रखने में महिलाओं की अहम् भूमिका रही है। मानव-जाति के युग-युगान्तर की यात्रा के दौरान महिलाओं ने कई बार नए रास्ते खोज निकाले हैं, समस्याओं के हल के लिए नित नए उपाय सुझाए हैं। संस्कृति गढ़ने में महिलाओं की विशेष भूमिका रही है। खेती-बाड़ी के नए तरीके खोजने में महिलाओं की ही पहल रही है। आज तक महिलाएँ जानकारियाँ बाँटकर हारी-बिमारी के रहस्य समझती और उपचार करती हैं। इन्सानी रिश्तों की पेचीदगियाँ महिलाएँ समझती हैं और इनको आधार मानकर जीवन के निर्णय लेती हैं। अतः विभिन्न महत्त्वपूर्ण मामलों पर महिलाएँ सहज रूप से एक-दूसरे से सीखती आई हैं, और समाज व समुदाय के लिए समर्पित रही हैं।

परम्परा में महिलाओं की भूमिका समय के साथ बदली है। एक ओर आज भी महिलाएँ पारम्परिक कलाओं में मिलकर जुटी रहती हैं, वहीं दूसरी ओर आधुनिक क्षेत्र में महिलाएँ शिक्षा व बाहरी काम-काज में एक दूसरे का सहयोग करती हैं। विचित्र बात यह है कि पुरुष-प्रधान समाज में आपसी फ़र्क और विविधताओं के बावजूद, महिलाओं ने ही संस्कृति व पारम्परिक कलाओं को सम्भाला और संजोया है। और आज, जब शिक्षा का क्षेत्र घर से लेकर स्कूल-कालेज तक फैल गया है, लड़कियाँ यहाँ भी किसी से पीछे नहीं हैं। जहाँ-जहाँ लड़कियों को मौका मिलता है, वे अपनी काबिलियत का प्रमाण देती हैं।

बालिकाएँ घर-चौके-चूल्हे में माँ की मदद करते हुए भी पढ़-लिख लेती हैं। यही नहीं, लड़कियों की लगन इतनी है कि जटिल परिस्थितियों के बावजूद बार-बार पाया जा रहा है कि लड़कों के मुकाबले हर विषय में लड़कियाँ ज़्यादा जल्दी व अधिक निपुणता से सीख रही हैं। अनेक विषयों में लड़कियाँ आज उच्च शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। कोई ऐसा व्यवसाय नहीं रह गया जिसमें लड़कियों ने अपना कौशल साबित न किया हो। अध्यापिका, लेखिका, डाक्टर, पायलट, वैज्ञानिक इत्यादि सभी रूपों में भारतीय महिला आज ख्याति प्राप्त कर चुकी है। महिला शिक्षा की मांग सर्वप्रथम उन्नीसवीं सदी में उठी थी। बीसवीं सदी के

आरम्भिक काल में महिला आंदोलन ने महिला शिक्षा को अपना एक अहम मुद्दा बनाया था। अतः आज के समय महिला शिक्षा का जितना भी विस्तार हो पाया है, उसका अधिकांश श्रेय हमारी पिछली पीढ़ी की महिलाओं को मिलना चाहिए। शिक्षा और व्यापक तौर पर फैले, इसके लिए वर्तमान महिला आंदोलन कार्यरत है।

भारत के महिला आंदोलन ने लगातार बदलते परिवेश को ध्यान में रखते हुए अपने मुद्दों व प्राथमिकताओं को चुना है। संदर्भ के मुताबिक उसने अपने मुद्दों व आकांक्षाओं को आवाज़ व आकार प्रदान किये हैं। जहाँ उन्नीसवीं सदी में बाल विवाह, सती और विधवा पुनर्विवाह के मुद्दे सर्वप्रथम थे, वहीं बीसवीं सदी के आरम्भिक काल के दौरान महिला-शिक्षा, महिलाओं के कानूनी हक, तथा स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भागेदारी, ये थे प्राथमिक मुद्दे। आज के समय महिला आंदोलन के मुख्य मुद्दे हैं महिलाओं पर हिंसा को रोकना, निजी कानूनों में संशोधन, महिला स्वास्थ्य, आर्थिक दशा में सुधार इत्यादि। भारत में महिला आंदोलन अलग-अलग दौर व पड़ावों से गुज़र कर अपना अस्तित्व जमाए हुए है।

आंदोलन में पात्र अनेक हैं। नज़रिये भी अनेक हैं। उन्नीसवीं सदी का अंत होते-होते पण्डिता रमाबाई जैसी जुझारू, धार्मिक, बुद्धि-सम्पन्न महिला ने महिला-कल्याण के लिए विशेष संस्थाओं की स्थापना की। बीसवीं सदी शुरू हुई तो देश में अनेक स्थानीय महिला संस्थाएँ स्थापित हुईं। राष्ट्रीय महिला संस्थाएँ भी उद्घाटित हुईं। पिछले पाँच दशकों के दौरान देशभर में सैकड़ों स्थानीय महिला संगठन और कई राष्ट्रीय महिला संगठन गठित हुए हैं। कुछ संगठन दलित-श्रमिक महिलाओं के बीच कार्यरत हैं। कुछ मध्यम-वर्गीय माहौल में स्थित हैं। कई संगठन गरीब-अमीर दोनों के बीच अपनी पहचान बना रहे हैं। आज यदि एक ओर हैं सेवा-भाव और धर्म पे आधारित महिला संस्थाएँ, तो दूसरी ओर क्रांतिकारी महिला संगठन जो राजनैतिक दाँव-पेंच व शासकीय ढाँचों मे मूलभूत परिवर्तन को महत्त्व देते हैं।

हमारे देश का महिला आंदोलन अंतर्राष्ट्रीय महिला आंदोलन से कई स्तरों पर सम्बंध रखता है। दुनियाभर में पितृसत्तात्मक ढाँचों के ख़िलाफ सदियों से महिलाओं ने आवाज़ उठाई है। जहाँ-तहाँ संघर्ष का रास्ता अपनाया है। महिलाओं की स्थिति देश-विदेश में अंतर रखती हैं, परन्तु कुछ बिंदु एक समान हैं। महिलाओं का दोयम दर्जा, व पुरुष-प्रधानता, प्रत्येक देश व समाज में विद्यमान हैं। स्थानीय परिस्थितियों में अंतर है अतः विभिन्न देशो में महिलाएँ अलग-अलग मुद्दे उठाती आई हैं।एक-दूसरे के मुद्दों को समझना चाहती हैं, और इसके लिए प्रयास करती हैं। पश्चिमी देशों में आधुनिकीकरण व औद्योगिक विकास के साथ-साथ

महिला शिक्षा, पुरुष औरत समानता, कानूनी हक इत्यादि के सवाल उठे। महिलाओं ने भारी तादाद में अपने इन अधिकारों के लिए संघर्ष छेड़े। उन्नीसवीं सदी में चुनावों में वोट डालने के हक के लिए पश्चिमी देशों में महिलाओं को मोर्चे बांधने पड़े। बीसवीं सदी में पारिवारिक हिंसा व यौनिक सम्बंधों में खुलेपन व आज़ादी के मुद्दे उठे। हर देश में श्रमिक महिलाएँ काम व आमदनी से सम्बंधित विशेष मुद्दे उठाती आई हैं। अरब व अन्य मध्य-पूर्व के देशों में पर्दा प्रथा व विवाह की प्रथाओं पर प्रश्न उठते आए हैं। विभिन्न देशों में महिला संघर्ष की विभिन्न धाराओं को समेटकर एक मंच पर लाने के प्रयास भी हुए हैं। 1995 में चीन में दुनियाभर से हज़ारों महिलाएँ इकट्ठी हुईं और समानता, आज़ादी, सत्ता इत्यादि प्रश्नों पर अपने-अपने खास अनुभवों का आदान-प्रदान किया।

इस संदर्भ में भारतीय महिला आंदोलन अपनी पहचान बनाए हुए है। आज जो महिला आंदोलन की सरिता प्रवाहित है उसमें परम्परा व आधुनिकता दोनों की लहरें मौजूद हैं। अपने ही देश के आंदोलन को नजदीकी से देखें तो स्पष्ट होता है कि यह युगों-पुराना है परन्तु समय के साथ-साथ इसका स्वरूप व आवरण बदलता गया है। इसकी भाषा, तरीके और प्राथमिकताएँ बदलती गई हैं। जहाँ पुराने समय में महिला आंदोलनकारी पदों व दोहों की भाषा में भाव व विचार व्यक्त करती थीं, वहीं आज वे कानूनी हक व निजी आज़ादी की विचार-सम्पन्न भाषा इस्तेमाल कर रही हैं। औरतों ने दमनकारी ढांचों व मानसिकता का विरोध अपनी-अपनी तरह से किया है--कभी खुलकर तो कभी डरते-डरते, छुप-छुप कर। नज़दीकी व गहराई से देखने पर ही हम महिला आंदोलन की थाह पा सकेंगे।

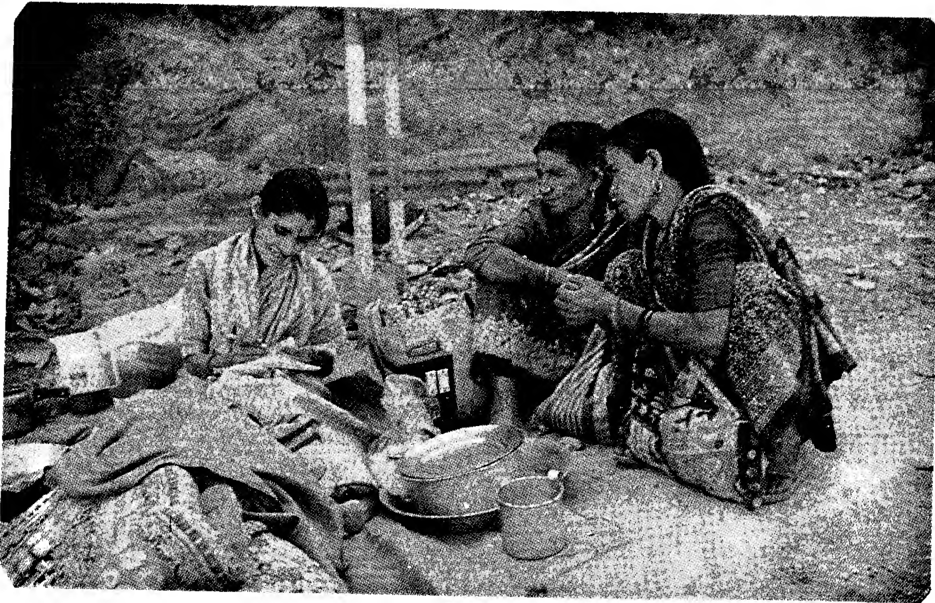
समाज में महिला आंदोलन के लिए आज समर्थन है, परन्तु शक व भय भी व्याप्त है। सम्भवतः पुरुषों को डर है कि महिलाएँ उनसे उनकी सत्ता न छीन लें। उल्टा पुरुषों को न दबाने लगें। यह शक निराधार है। महिला आंदोलन समाज की बुनियाद हिलाना ज़रूर चाहता है, परन्तु अपने स्वार्थ या अनुचित सत्ता हथियाने के लिए नहीं। बल्कि इस मकसद से कि समाज की जड़ों में से लिंग-भेद का कीड़ा निकाल दिया जाए। जिससे न्याय और समता की लहरें फैलें, सबको अपने मौलिक अधिकार प्राप्त हों। न कोई किसी का मालिक रहे, न किसी पर अनुचित दबाव डाले जाएँ। प्रत्येक इन्सान के गुण पनप सकें, और अच्छाई, सौन्दर्य व शक्ति का विकास हो।

इस व्यापक नज़रिये के आधार पर महिला आंदोलन हर दबे-कुचले पीड़ित इन्सान का हिमायती है। जिस समाज की ओर हम बढ़ना चाहते हैं उसमें ऊँच-नीच और जाल-फ़रेब

न हो बल्कि हर रिश्ता सम्मान व समता के आधार पर बने। न सामंतवाद में यह सम्भव रहा, और न पूँजीवाद में सम्भव है। अतः महिला आंदोलन सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में काया-कलप के लिए संघर्षरत है।

सपनों व वास्तविकता के बीच का फ़ासला लम्बा है और गहरा भी। ऊँचे आदर्शों को धरती पर लाकर, इन्सान के जगत व जीवन के हर पहलू में व्यवहारिक रूप से बदलाव लाना कोई छोटी-मोटी चुनौती नहीं है। यही चुनौती है महिला आंदोलन के सामने। आज की दुनिया में यह लक्ष्य दूर, बहुत दूर, है। क्षितिज पर पलभर के लिए झलकता है, फिर ओझल हो जाता है।

आइये देखें किस-किस तरह, परत-दर-परत, पीढ़ी-दर-पीढ़ी महिलाओं ने अन्याय व शोषण का विरोध किया है, अपनी आवाज़ें बुलंद की है, संघर्षों में योगदान दिया है। महिला आंदोलन की एक संक्षिप्त व सरल रूपरेखा आपके सामने रखने के इस प्रयास में कमियाँ और त्रुटियाँ रह जाएंगी, उनके लिए माफी। लम्बी यात्रा पर निकल रहे हैं--ऐतिहासिक दृश्यों व समीक्षाओं से लेकर समकालीन ज्वलंत मुद्दों और स्थितियों तक। आज इस यात्रा का कोई अंत नहीं दिख रहा है। बल्कि राहें भविष्य में फैलती, और फैलती नजर आ रही हैं।



टीहरी बाँध के विरोध में धरना

दूसरा अध्याय

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
प्राचीनकाल से उन्नीसवीं सदी तक

प्राचीन काल के इतिहासकारों के लिखे इतिहास में महिला बग़ावत के कम ही उल्लेख हैं। फिर भी शोषण व दमन के खिलाफ़ महिलाएँ अपनी आवाज़ अपनी तरह से हमेशा उठाती रही हैं, इसके अनेक सबूत हम बटोर सकते हैं। नारीवादी व प्रगतिवादी नजरिए से प्रेरित कई समाजशास्त्री, इतिहासकार व मानव-वैज्ञानिक आज महिलाओं के अस्तित्व व विरोध को नए सिरे से समझ पा रहे हैं। पुरुषवादी नज़रिए से लिखे इतिहास में राजा-महाराजाओं के शासन और युद्ध-विजय की घटनाओं की ही चर्चा रही है। फिर भी इस मुख्यधारा इतिहास के पृष्ठों में कुछ झीनी दरारें हैं, जिनमें से झांकने पर एक दूसरी ही दुनिया नजर आती है। उसमें दास-दासी और श्रमिक-दलित हैं, घर की चारदीवारी की घुटन में जीती और खेत-खलियान में जी-तोड़ मेहनत करती महिलाएँ हैं। उनके रोज़मर्रा की साधारण ज़िदगी का पसीना, सुख-दुख और हँसी मज़ाक है। साधारण महिलाओं की ज़िंदगी, सोच, भावनाओं और छिपी-छिपाई बगावत का अनुमान लगाने का प्रयास आज कई रोचक तथ्य उजागर कर रहा है।

पुरुषों के अधीन रहना महिलाओं ने सहा ज़रूर, पर कभी पूर्ण रूप से स्वीकारा नहीं। सहस्त्रों कष्ट झेले, हज़ार यातनाएँ सहीं। अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को बार-बार दबाया। परन्तु न हिम्मत हारी, न अपनी इन्सानियत खोई। सदियों पुराने ज़माने में महिलाओं के क्या अनुभव रहे इसकी थाह पाना आसान नहीं। परन्तु कुछ आवाज़ें ज़रूर आज तक हमारे कानों में गूंज रही हैं। आज से ढाई हज़ार बरस पहले कुछ महिलाओं ने पितृसत्तात्मक समाज से बगावत करके अपनी आज़ादी की खोज में बौद्ध भिख्खुनी बन जाने का कदम लिया। इनमें से एक भिख्खुनी ने लिखा-

"एक औरत आज़ाद हुई। कितनी आज़ाद हूँ मैं.
अब, चौके में हमेशा घिसते रहने से मुक्त,
भूख की जकड़न से मुक्त,
खाली खनकते बर्तनों से मुक्त,
उस आदमी की क्रूरता से मुक्त
वो, जो छाते बुनता है।
अब शांत और धैर्यवान हूँ मैं,
सारे काम और द्वेष से मुक्त।
फैलते वृक्षों की छाया में जाती हूँ मैं
और अपनी खुशी पर ध्यान टिकाती हूँ।"

उपरोक्त पद सुमंगलमाता नामक भिख्खुनी ने लगभग 600 ई.पू. में (पाली भाषा में) रचा। 'तेरीगाथा' नामक पद्य-संकलन में यह उपलब्ध है। इसी संकलन में मट्टा नामक भिख्खुनी ने आम ज़िंदगी की घुटन, और आज़ादी की अमिट लालसा, इन शब्दों में व्यक्त की-

"कितनी आज़ाद हूँ मैं! कितनी अनोखी है आज़ादी!
तीन तुच्छ वस्तुओं से मुक्त-
मुक्त ओखली, मूसल और अपने टेढ़े मालिक से,
पुनर्जन्म और मृत्यु से मुक्त हूँ मैं,
जिस तमाम ने दबाए रखा था मुझे
वो सब अब दूर फिंक चुका है।"

पुरुषों के अधीन रहते हुए महिलाओं ने घुटन महसूस की, दर्द झेले, कुंठित और क्रोधित हुईं। महिलाएँ अपनी असहमती और रोष को तरह-तरह से व्यक्त करती रहीं, और इन आवाजों को समाज सुना-अनसुना करता रहा। संगमकाल (100 ई.पू. से 250 ई.पू.) में वेल्ली विट्टियार कुरूनटोकाई ने नारी-पीड़ा को (तमिल भाषा में) कुछ इस तरह व्यक्त किया था-

"......मेरा दर्द है
पिघलते मक्खन की तरह,
धूप में दहलीज पे रखा जलता हुआ..."

और तमिल भाषा में ही संगमकाल की औवइयर कुरूनटोकाई ने नारी-पीड़ा से उपजे क्रोध और बदले की भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया था

"इन लोगों पर हमला करूँ, इन्हें मार दूँ मैं?
मुझे मालूम नहीं।
या कोई कारण खोजकर ज़ोर से चिल्लाकर बुलाऊँ
इस सोते शहर को
जो मेरी पीड़ा नहीं जानता
जब कि बहती हवा गोल घूमती
मुझे इधर-उधर खींचती है।"

इससे भी बहुत पहले हमें 'महाभारत' में कुंती, गांधारी, और द्रौपदी जैसी गम्भीर और प्रभावशाली महिला पात्र मिलती हैं। परिस्थिति-वश प्रत्येक ने अथाह दुख झेला पर अपने विचार और भावनाओं को व्यक्त करना न भूलीं। उदाहरणार्थ, द्रौपदी ने भरी सभा में खुले-आम अपने पति धर्मराज युधिष्ठिर को चुनौती दी। धन-दौलत-राज्य-भाई सब से युधिष्ठिर हाथ धो बैठे तो आखिर में पत्नी द्रौपदी को दांव पर लगा दिया। दुर्योधन चौपड़ में फिर जीता और द्रौपदी को बुलाने के लिए दूत भेजा गया। द्रौपदी ने दूत को इस सवाल के साथ वापस भेज दिया-"सभा में जाकर पूछो कि क्या धर्मराज स्वयं दुर्योधन के अधीन नहीं हो चुके थे जिस समय उन्होंने मुझे दांव पर लगाया?" दुर्योधन ने बार-बार द्रौपदी को बुलाने दूत भेजा, पर वो नहीं आईं। तब दुशासन उन्हें खींचकर ले आया। द्रौपदी की आँखों में आँसू थे और आवाज में आक्रोश। भरी सभा में वही प्रश्न पूछा-"किस अधिकार से युधिष्ठिर मुझे दांव पर लगा सकते हैं?" सभा में वृद्ध विद्वान तर्क-वितर्क में फँस गए। द्रौपदी को कोई जवाब ने दे पाया। परन्तु द्रौपदी की रक्षा भगवान श्रीकृष्ण को ही आकर करनी पड़ी। द्रौपदी के प्रश्न से पाण्डव व उनके हिमायती दरबारियों की गर्दनें झुक गईं, और झुकी ही रहीं।

रामायण में जब दशरथ राम को बनवास की आज्ञा देते हैं तब कौशल्या राम को रोकती हैं, और बताती हैं कि माँ का अधिकार पिता से अधिक माना जाता है। किन्तु राम इस कथन को ठुकराकर पितृ-सत्ता की नींव पुष्ट करते हैं। सीता भी कई मौकों पर राम से तर्क करती हैं। वाल्मीकि की सीता चुपचाप दुख झेलती हुई नहीं, बल्कि अपने अधिकारों के लिए जागरूक महिला के रूप में हमारे सामने आती हैं। जब राम अकेले वनवास जाने को तैयार

होते हैं तब सीता क्रोधित हो आत्म-विश्वास सहित साथ जाने का आग्रह करती हैं--"मुझे जंगल में किसी बात का डर नहीं। मैं पथ पर आगे चलूँगी और आपके मार्ग से काँटे हटा दूँगी।" राम को समझाने के लिए सीता यह भी कहती हैं कि महल में वे अकेली पड़ जाएँगी तब अनेक साज़िशों में घुल-पिस जाएँगी। सीता के आग्रह को राम ठुकरा नहीं पाते। परन्तु बहुत दिनों बाद जब सीता-हरण के उपरान्त वानर सेना की सहायता से राम रावण का वध कर देते हैं तब जब सीता उनके सामने आती हैं तो राम उन्हें ठुकरा देते हैं। राम कहते हैं, "पर-पुरुष के साथ रही औरत को अपनाना उच्च कुल के मर्द के लिए सम्भव नहीं.... मैंने युद्ध लड़ा तुम्हें वापस जीतने के लिए नहीं, बल्कि अपने कुल की मर्यादा रखने के लिए। मेरी ओर से तुम आज़ाद हो। तुम्हें जहाँ जाना है, जिसके साथ जाना है, जा सकती हो।" तब सीता स्वयं लक्ष्मण को आदेश देती हैं कि अग्नि-कुण्ड जलाया जाए, और उसमें कूद पड़ती हैं, राम को यह कहते हुए- "तुम्हारे लिए मैंने अपने को बचाए रखा और तुम्ही ने मुझे न समझा। चाहे मेरे शरीर के साथ कुछ भी हुआ हो, ईश्वर गवाह है कि मेरा मन एक पल के लिए भी तुम से नहीं हठा था।" इस अग्नि-परीक्षा में सीता विजयी होती हैं। उसी समय समस्त देवता वहाँ पहुँच जाते हैं और सीता की रक्षा व प्रशंसा करते हैं। राम सीता को अपना कर वापस अयोध्या ले जाते हैं। कई वर्षों बाद, धोबी के शक करने पर राम ने सीता को फिर त्याग दिया और सीता ने वनवास दौरान लव-कुश को जन्म दिया व पाला-पोसा। इन दो बालकों ने अपने पिता का सामना किया, तब राम ने एक बार फिर सीता को अपनाना चाहा। अब सीता इस जाल में फँसने के लिए तैयार नहीं थीं। प्यार और स्वीकृति के साथ शक की छाया-- इस खेल में सीता फिर से शामिल न होना चाहती थीं। ऐसे पति को स्वीकारने के लिए वो तैयार न थीं जो न उनका हृदय समझता था न उन पर विश्वास रखता था। अत: सीता ने धरती माता में समा जाने का कदम ले लिया। साधारण महिलाएँ मनोवैज्ञानिक तौर से सीता की हिम्मत व शक्ति से प्रेरित हो जाती हैं। हाल में जब कुछ धर्म-निष्ठ महिलाओं से पूछा गया कि वे सीता को आदर्श क्यों मानती हैं, तो उन्होंने दो कारण बताए-- "पहला, सीता ने कठिन परिस्थितियों का सामना हिम्मत और धैर्य के साथ किया। और दूसरा, उन्होंने अपने बच्चे अपने-आप पाले, और बहुत अच्छी तरह से पाले।"

युग-युग में महिलाओं ने घर-गृहस्थी के साथ बच्चों के पालन-पोषण की ज़िम्मेदारी निभाई है। शोधकर्त्ताओं का कहना है कि सम्पूर्ण मानव-जाति के कुछ महत्त्वपूर्ण पड़ाव महिलाओं

की रचनात्मकता पर ही आधारित थे। महिलाओं ने ही सर्वप्रथम स्थाई इकाइयाँ बनाईं-- माँ बच्चे की सामाजिक इकाई, और माँओ व बच्चों के समूह की इकाई। मानव-जाति को जानवरों के स्तर से अलग उठाने में महिलाओं की ही अहम् भूमिका रही। खाना पकाना, कपड़ा बनाना, घर-झोपड़ बनाना, मिट्टी के बर्तन गढ़ना और टोकरियाँ बुनना, जड़ी-बूटी द्वारा उपचार करना, पशु पालना : ये सब महिलाओं की ही देन रहीं। खेती-बाड़ी की खोज और शुरुआत भी महिलाओं ने की। इसके बाद पारिवारिक जीवन पनपने लगा, साथ-साथ भाषा का विकास हुआ और कबीले स्थापित हुए। फिर ज़मीन पर आधिपत्य जमने लगा और मर्दों ने इसमें अगुवाई की। ज़मीन पर मर्द ने आधिपत्य जमाया, और औरत और बच्चों पर भी। अलग-अलग कबीले के मर्दों के बीच ज़मीन के लिए लड़ाइयाँ हुईं। धीरे-धीरे समाज में पितृसत्तात्मक शादी की परम्परा स्थापित होने लगी जिसके तहत औरत एक कबीले या परिवार से दूसरे कबीले या परिवार तक अदली-बदली जाने लगी।

मानव सभ्यता के आरम्भिक दौर में महिलाओं की शक्ति को पहचाना और पूजा जाता था। उनके योगदान सर्वमान्य थे। दुनिया की सभी प्राचीन सभ्यताओं में माता के रूप में सशक्त देवियों की पूजा होती थी। औरत को जननी व जगत-जननी माना जाता था। उसकी सृजन-शक्तियों को बहुत ऊँचा आँका जाता था। आरम्भिक काल में महिलाओं की अपार शक्तियों की महत्ता थी। परन्तु धीरे-धीरे पुरुषों ने महिला-शक्ति का फायदा उठाया, महिलाओं को अपने बस में करने की तरकीबें ईजाद व इस्तेमाल कीं, और पितृसत्ता की स्थापना दुनिया के कोने-कोने में हो गई।

...हमने देखा कि पितृसत्तात्मक ढाँचों में रहते हुए भी महिलाओं ने अपना अस्तित्व बनाना चाहा और अपनी भावनाएँ व विचार प्रकट करने का प्रयास जारी रखा। घर-गृहस्थी, खेती बाड़ी, वन-उपवन के विविध कार्यों में महिलाएँ निपुण थीं। इन क्षेत्रों में महिलाएँ अपना कौशल बढ़ाती ही गईं। एक तरफ़ अधीन होने से कुण्ठा उपजी, परन्तु दूसरी तरफ़ महिलाओं में कुछ खास खूबियों व गुणों का विकास हुआ। एक विशेष संवेदनशीलता महिलाओं में विकसित हुई। अनुभव से पैदा हिम्मत व कौशल प्राचीनकाल से लेकर आज तक महिलाओं की अमूल्य धरोहर रही है।

समय-समय पर कई औरतों ने केवल घर-गृहस्थी और बाल-बच्चों के बीच ज़िंदगी गुज़ारना असहनीय माना, और घुटन-भरी इस ज़िंदगी से अलग कुछ चाहा। इतिहास में ऐसे कई महिला पात्र हैं जो अपने स्वतंत्र अस्तित्व व विचारों के लिए सम्मानित हुए। पुरुष-प्रधान

समाज के कई विचारों और विसंगतियों की कड़ी आलोचना की इन महिलाओं ने। और समाज, धर्म व राजनीति पर अपनी छाप भी छोड़ी।

मध्यकाल में

मध्यकाल में कुछ विख्यात, महिलाएँ थीं, जिन्होंने नारी-हृदय की पीड़ा व्यक्त की और मुक्ति का मार्ग खोजने का प्रयास किया। इनमें प्रमुख थीं मीराबाई, सहजोबाई, जनाबाई, रामी, महादेवी अक्का, सुले सनकवा, गंगासती, रतनबाई, आतुकुरी मौल्ला, बहिनाबाई, गुलबदन बेगम, चौंद्रबौती, संचिया होनम्मा, मुड्डपालानी और महलका बाई चंदा।

महादेवी अक्का और सुले सनकवा दोनों बारहवीं सदी की कन्नड-भाषी महिलाएँ थीं। महादेवी अक्का वीरशैव सम्प्रदाय की समर्पित नेत्री थीं, जिन्होंने दक्षिण भारत में भ्रमण करते हुए, नग्नावस्था धारण कर, समाज की मूलभूत अवधारणाओं का कड़ा विरोध किया। वहाँ के जैन राजा, कौशिक, महादेवी अक्का से विवाह करने को उत्सुक थे परन्तु महादेवी अक्का ने किसी पुरुष से विवाह करने से इन्कार कर दिया। उनके वचनों में आत्म-सम्मान और आध्यात्मिक खोज थी, व जाति-प्रथा की कड़ी आलोचना।

सुले सनकवा वीरशैव संत थीं, परन्तु काम करती थीं वैश्या का। शिव को उन्होंने 'निर्लजेश्वर शिव' की उपाधि देकर पुकारा। उन्होंने भी कविता द्वारा अपनी बातें व्यक्त कीं।

पन्द्रहवीं सदी में भक्ति-भाव से प्रेरित मीराबाई ने भी समाज-सुधार व रचनात्मक क्रांति की मशाल उठाई। राजपूत घराने की इस रानी ने राजा-महाराजाओं के महल छोड़कर युद्ध-विजय-हिंसा की परम्परा नकारी और वैकल्पिक जीवन के लिए अपनी खोज पे डटी रहीं। पति भोजराज की मृत्यु के बाद मीरा न सती बनीं, न उन्होंने कभी पूरी तरह से भोजराज को स्वीकारा ही था। जब देवर, राणा विक्रम, ने मीरा को ज़हर का प्याला भेजा, तब मीरा ने महल त्याग दिया और अपनी दासी ललिता के साथ गाती-बजाती वृंदावन के लिए निकल पड़ीं। ब्रज-भाषा में उनके गीत आज तक ग़रीब-अमीर सब गाते हैं। गुजराती भाषा में अनेक भजन उन्होंने द्वारिका जाकर रचे। वहीं पर रनछोड़जी के मंदिर में उन्होंने दम तोड़ा। उनके गीत और भजन देशभर में फैल गए हैं, और लाखों महिलाएँ अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी व सम्बंधों को निभाने में इनसे मनोबल पाती हैं। राणा-राजाओं के ज़ुल्मों व पति

की सत्ता के खिलाफ़ मीरा ने बगावत की थी, और इस बगावत को अपनी आज़ादी के लिए आवश्यक माना था। इसीलिए साधारण किसान और निम्न-जाति की जनता में मीराबाई का आज तक़ बहुत मान-सम्मान है। उन्हें अनुचित सत्ता की ख़िलाफत का प्रतीक माना जाता है।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों में ही जनाबाई ने मराठी, रामी ने बंगाली, और गंगासती व रतनबाई ने गुजराती में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विरोध प्रकट किया। जनाबाई शुद्र थीं, जिन्होंने सात वर्ष की उम्र में एक सम्पन्न घराने में दासी का काम सम्भाल लिया था। अपार आत्म-विश्वास व कल्पना-शक्ति से ओत-प्रोत वो बोलती हैं-

''हाथ में मंजीरे, कंधे पे वीणा,
कौन मुझे रोकने की हिम्मत कर सकता है?
साड़ी का पल्लू गिर जाता है,
हज़ार बातें बनाते हैं लोग,
किन्तु मैं जाऊँगी भरे बाज़ार में, निःसंकोच, निडर''....।

स्वतंत्र महिला की छवि, अर्ध-सत्य ही सही, परन्तु कल्पना में गढ़ी तो गई। इसी तरह रामी निम्न छोबी जाति में पैदा हुईं थीं, परन्तु मंदिर में सेवा करते हुए वैष्णव कवि चंडीदास के साथ उन्होंने प्रेम किया और साहसपूर्वक निभाया। उनके प्रेम की गाथा व उनकी रचनाएं इन्सानी रिश्तों की सहज पुष्टि करती हैं और जाति-भेद की कटु आलोचना।

सोलहवीं शताब्दी में अतुकूरी मोल्ला ने तेलगु में एक रामायण की रचना की। मोल्ला कुम्हार जाति की थीं। उनकी रामायण में सीता के अस्तित्व पर अधिक ध्यान है-- सीता की खुशियों, आत्म-विश्वास व चिंताओं को सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। इसी तरह चौंद्रबौती द्वारा रचित बंगाली रामायण में सीता के व्यक्तित्व का अद्भुत आत्म-सम्मान व साहस दर्शाया गया है। इसके विपरीत राम को 'कमज़ोर पति', 'डरपोक बेटा', और 'अकुशल राजा' की उपाधियाँ मिली हैं। चौंद्रबौती ने स्वयं विवाह करने से इन्कार कर दिया था। चौंद्रबौती ने जीवनभर ऐसे कानूनों का खुलकर विरोध किया जिनसे आम जनता पर ज़ुल्म ढाया जाता था। अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में लोगों से नाजायज़ कर वसूल किये जाते थे, जिससे आम महिलाओं की स्थिति बदतर होती जा रही थी। चौंद्रबौती ने ऐसे कर और कानूनों का खुलकर विरोध किया।

अठारहवीं शताब्दी की मुद्दुपालानी एक तेलगु भाषी वैश्या थीं। वे विदुषी थीं और स्वतंत्र अस्तित्व रखती थीं। पुराने समय से कुछ वैश्याएँ समाज के हाशिए पर सही, परन्तु विदुषी और कला निपुण रही हैं। प्राचीन बौद्धकाल में आम्रपाली प्रतिष्ठित, विदुषी और आज़ाद छवि वाली महिला थीं। प्राचीन जैन ग्रंथों में एक वैश्या, बिंदुमति, में इतनी शक्ति थी कि कहा जाता था कि वे गंगा को उल्टा बहा सकती थीं। जब सम्राट अशोक ने इस अपार शक्ति का रहस्य जानना चाहा तो पता चला कि बिंदुमति 'श्रत्रिय', 'ब्राह्मण', 'वैश्य' और 'शुद्र' सबके साथ समान व्यवहार करती थीं, इसलिए उनके अंदर इतनी शक्ति उत्पन्न हुई। अठारहवीं सदी तक आते-आते समाज व काल में बहुत परिवर्तन हुए। परन्तु समाज में तब भी वैश्या का एक खास स्थान बना रहा। माँ-पत्नी की भूमिकाओं को निभाने में आम महिलाएँ अपनी जान लगा देती हैं। इन भूमिकाओं से दूर कुछ-एक पेशेवार वैश्या या तवायफ़ कलाओं में निपुण हो जाती हैं। मुद्दुपालानी एक लिहाज़ से मजबूर और शोषित थीं, परन्तु दूसरे लिहाज़ से उनके अस्तित्व में अनोखा वज़न था। गर्व से मुद्दुपालानी बताती थीं कि उन्होंने प्रत्येक कला में निपुणता हासिल की है। अठारहवीं सदी की ही महलका बाई चंदा जो उर्दू भाषी थीं, अनेक कलाओं में निपुण थीं और समाज में अपना स्वतंत्र अस्तित्व व खास स्थान बनाए हुए।

मध्यकाल की तांत्रिक परम्पराओं में औरत की शक्ति की उपासना होती थी। 'महानिर्वाण तंत्र' में सती-प्रथा व बलात्कार की कड़वी आलोचना की गई थी, और पुरुषों को हिदायत दी गई थी कि वे अपनी पत्नी का सम्पूर्ण सम्मान करें। उससे न क्रोध करें न उस पर अन्याय ढायें, न कभी उसका तिरस्कार करें। तांत्रिक स्थलों व मंदिरों में देवियाँ, डाकिनें, योगिनी और मातृकाओं की प्रतिमाएँ व प्रतीक आज तक मौजूद हैं। तांत्रिक ग्रंथों से सिद्ध होता है कि कई महिलाएँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हुईं। इनमें से कुछ महिलाएँ गुरु भी मानी गईं। बौद्ध तांत्र में कुमुदारा, पद्मालोचना, ज्ञानालोचना, गंगाभद्री, कुमुदा, लक्ष्मी, पद्मपादा, चिंता, सुखाकारा, सुखसिद्धि, शबरी, विमला और वृक्षपर्णी इत्यादि के नाम विख्यात हैं। इन योगिनियों ने समाज की हर रूढ़ि का विरोध किया। प्रायः निम्न जाति की होते हुए भी इन्होंने आध्यात्मिक शक्तियाँ हासिल कीं। विवाह-प्रथा व 'नारी-उचित' भूमिकाओं की अवहेलना की। अपने जैसे मोक्ष-अभिमुखी पुरुषों के साथ कई बार घनिष्ठ सम्बंध स्थापित किये। स्वतंत्र अस्तित्व, आत्म-विश्वास व शक्ति की जीती-जागती प्रतिमाएँ थीं भारत की ये महिलाएँ-- जिन्हें पुरुष-प्रधान इतिहास

ने आज तक मान्यता नहीं दी है। जब तांत्रिक ग्रंथो व सबूतों की सही समीक्षा होती है, तब इन महिलाओं की महत्ता को नज़रअंदाज़ करना असम्भव हो जाता है।

प्राचीन काल से ही सामाजिक रूढ़िओं के खिलाफ़ हर धर्म व हर तबके की महिलाओं ने अपनी-अपनी तरह से विरोध किया। मध्यकाल में संत-योगिनी-पैगम्बरज़ादियों को समाज में सम्मान मिला। वैश्या तक ने अपनी जगह बनाए रखी। आम महिलाओं की ज़िंदगी रूढ़ियों की जकड़न से मुक्त नहीं हो पाई, तब भी उन्हें अपनी असहमति, आक्रोश ओर असंतोष व्यक्त करने के लिए समय-समय पर मौके तो मिले। समाज में प्रतिष्ठित, स्वतंत्र-अस्तित्व वाली महिलाओं के होने से साधारण महिलाओं के सपने और कल्पना शक्ति को पनपने के लिए कुछ प्रतीक और प्रतिमाएँ मिल जाती थीं। घरेलू संघर्ष और काम-काज के क्षेत्र में प्रतिरोध आम महिला के जीवन का अभिन्न अंग रहा होगा, यह अनुमान लगाना उचित है। कुल मिलाकर महिलाओं ने पुरुष-प्रधान सभ्यता में रहते हुए भी अपनी 'उप-संस्कृतियों' को बनाए रखा, और उन्हें सँवारती रहीं। अपनी ज़िंदगी व भूमिकाओं में सार्थकता खोजती रहीं, गढ़ती रहीं। हर महिला ने लीक से हटकर संत, कवियित्री, योगिनी बन जाने का रास्ता नहीं अपनाया, परन्तु वह अपनी तरह से, अपनी दुनिया में, अपना अस्तित्व बनाने का भरसक प्रयत्न करती रहीं। कई कलाओं में महिलाओं ने निपुणता हासिल की, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी बेटियों को सिखलाती आईं। अतः साधारण भारतीय महिलाओं में एक ज़बरदस्त शक्ति झलकती है, संवेदनशीलता के साथ साहस, धैर्य के साथ न्याय-प्रियता। हमारे देश की साधारण महिलाओं में आत्म-विश्वास और इन्सानी प्रेम के साथ आक्रोश व सत्याग्रह के गुण भी पैदा हुए है। ये गुण हमारे इतिहास की देन हैं, जिसमें समय-समय पर स्थान-स्थान पर महिलाओं ने अपने विश्वासों के लिए हिम्मत से अपनी आवाज़ें बुलन्द की हैं।

महिला-विरोध के लम्बे इतिहास में शुरू से ही सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी पहलू रहे हैं। आधुनिक काल में महिलाओं ने राजनीति व सार्वजनिक क्षेत्रों में विशेष संघर्ष छेड़े हैं। आइये देखें अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में, अंग्रेज़ी शासन-काल के दौरान, भारत की महिलाओं ने क्या रुख अपनाये।

अठारहवीं व उन्नीसवीं सदी

अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों में भारतवर्ष पर अंग्रेजी शासन की छाया फैलती व गहराती गई। अंग्रेजी शासन का विरोध व देश की स्वतंत्रता के लिए संग्राम छिड़ने लगे। इस माहौल

में महिलाओं की स्थिति की तरफ विशेष ध्यान गया। 'भारत राष्ट्र' के निर्माण के साथ साथ 'भारतीय नारी' की छवि भी नए सिरे से परिभाषित होने लगी। अंग्रेजों ने अपना शासन न्यायपूर्ण साबित करने के लिए भारत में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों को उजागर करना चाहा। भारतीय नेताओं और धर्मशास्त्रियों ने उल्टा यह साबित करने की कोशिश की कि भारतीय परम्परा में महिलाओं को उच्च स्थान मिलता आया है। तर्क वितर्क व सबूत-टिप्पणियों के ढेर जमते गए। कुछ प्रान्तों में समाज-सुधार की लहर फैली, जिसमें राष्ट्रवादियों ने भारतीय महिला की स्थिति सुधारने के विभिन्न उपाय सुझाये। इस सारे उथल-पुथल के बीच महिलाओं ने अपने आप क्या विचार बनाए और क्या कदम उठाए? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण और रोचक है। इस काल में महिलाओं ने स्वयं क्या चाहा और वे कौन सी दिशाएँ चुन पाई?

यह सर्वविदित है कि भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम 1857-58 में लड़ा गया था। किन्तु इसके दौरान, पूर्व और उपरान्त महिलाओं के संघर्ष का इतिहास बहुत धुंधला है। कुछ-एक जुझारू महिलाओं के नाम हमारे सामने अवश्य आते हैं-- जिन्होंने जी-जान से अपने क्षेत्र या इलाके की रक्षा की थी। जैसे सोलहवीं शताब्दी में सम्राट अकबर ने पूरे दक्षिण को जीतने की योजना बनाई थी परन्तु अहमदनगर की चांद बीबी ने हाथों में तलवार सम्भाली और बुरका पहने हुए ही वे युद्ध में कूद पड़ी थीं। युद्ध-उपरान्त अकबर को चांद बीबी के साथ संधि करनी पड़ी थी और कई वर्ष तक अहमदनगर स्वतंत्र रह पाया था। इसी शताब्दी में ही गोंडवाना क्षेत्र की रानी दुर्गावती के असाधारण पराक्रम के कारण अकबर की विशाल सेना के छक्के छूट गए थे। उनकी बहादुरी आज तक गोंडवाना के लोग गर्व से याद करते और गाते हैं,--

''जब दुर्गावती रण को निकलीं,
हाथों में थीं तलवारें दो,
गुस्से से चेहरा ताम्बा था।
आँखों से अंगारे उड़ते थे,
घोड़े की बागें दाँतों में
हाथों में थीं तलवारें दो।''

अठारहवीं सदी में इन्दौर राज्य की रानी अहल्याबाई ने मराठा पेशवाओं के ज़माने में अपना राज्य सुरक्षित रखा, और कई प्रकार के राज्य-सुधार भी किये। इसी काल में बंगाल की रानी भवानी ने तुर्क नवाब अलीवर्दी खाँ का सामना बहुत हिम्मत और साहस के साथ किया।

सत्रहवीं शताब्दी में मराठों की मशहूर रानी ताराबाई और विदर्भ में राजमाता जीजाबाई ने अपनी मातृभूमि की रक्षा वीरतापूर्वक की थी।

वीरांगनाओं की गाथाएं पुराने ज़माने से चली आ रही थीं और उन्नीसवीं सदी में भी इस श्रृंखला में नए मोती पिरोये गये। उन्नीसवीं सदी में रानी चेनम्मा, महारानी लक्ष्मीबाई और बेगम हज़रत महल ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध लड़ाई में जी-जान से योगदान दिया। इनके अलावा अज़ीज़न बाई, झलकारी बाई, कुमारी मैना इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है।

कित्तूर (आधुनिक कर्नाटक का हिस्सा) राज्य की रानी चेनम्मा ने 23 अक्टूबर 1824 को साहस और सूझ-बूझ के साथ कित्तूर के किले पर अंग्रेजों का आक्रमण नाकाम कर दिया। इसलिए दक्षिण भारत में 23 अक्टूबर को आज तक कई लोग 'महिला दिवस' के रूप में मनाते हैं।

रानी लक्ष्मीबाई के पति गंगाधर राव की मृत्यु के बाद अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने झाँसी राज्य को अपनी हुकूमत में शामिल कर लिया। 'पहली स्वतंत्रता युद्ध' के दौरान विद्रोहियों ने झाँसी के किले पर आक्रमण किया और प्रजा ने लक्ष्मीबाई को रानी घोषित किया। शासन सम्भालते ही लक्ष्मीबीाई ने अंग्रेजी तोपों का सामना किया। रानी ने पुत्र को अपनी पीठ पर बांधा, घोड़े की लगाम मुँह से थामी और दोनों हाथों से तलवार चलातीं घमासान युद्ध में कूद पड़ीं। यहीं उन्होंने वीरगति पाई।

इसी भारत-व्यापी जंग में बेगम हज़रत महल ने लखनऊ में क्रान्ति का झण्डा लहराया। उन्होंने सेना में महिलाएँ शामिल कीं और स्वयं भी जंग के मैदान में उतर पड़ीं। अंततः लखनऊ उनके हाथ से निकल गया। किन्तु उनका साहस भुलाया नहीं जा सकता।

बेगम ज़ीनत महल ने दिल्ली की रक्षा के लिए भरपूर प्रयास किया। उन्होंने वृद्ध बहादुरशाह ज़फर का हौसला बढ़ाया और क्रांतिकारियों का पूरा समर्थन किया। इसी तरह रामगढ़ रियासत (मध्यप्रदेश) की रानी अवंतिकाबाई लोधी भी 1857 में विद्रोह का झण्डा लिए उठ खड़ी हुई थीं। तुलसीपुर की रानी ईश्वरी कुमारी ने अंग्रेज़ी राज्य के खिलाफ़ विद्रोह किया, और अंत तक हथियार नहीं डाले। जालौन की रानी तेजबाई ने विद्रोहियों का समर्थन किया और इसके लिए बारह वर्ष लम्बी सज़ा जेल में काटी। झाँसी ही की एक अन्य महारानी, 'महारानी तपस्विनी' ने 'लाल कलम' द्वारा उत्तर भारत में 1857 की क्रांति के लिए ज़मीन तैयार की थी। संयासियों और पत्रकारों को उन्होंने लामबंद करके गाँव गाँव, शहर शहर

और छावनी-छावनी भेजा था, भावी क्रांति के लिए प्रेरित करने के लिए। अत: 1857-58 के संग्राम के पीछे महारानी तपस्विनी की पूर्व-प्रेरणा थी।

रानियों के योगदान से कम नहीं था अनेक अन्य स्त्रियों का सहयोग और साहस। जैसे, कानपुर की नर्तकी अज़ीज़न बाई ने गुप्त समाचारों का पता लगाकर सेनानियों तक पहुँचा देने का महत्त्वपूर्ण काम किया। वह शहर की गलियों और छावनी के बीच चक्कर काटती थीं। अंग्रेजों की छावनी में नृत्य के बहाने घुसकर खुफ़िया तौर से उनकी खबरें लेती थीं, और देशभक्त सेनानियों तक पहुँचाती थीं। वह घायल सेनानियों के लिए भोजन और दवाई ले जाती थीं और योद्धाओं तक हथियार पहुँचाती थीं। अपने जैसी अन्य महिलाओं को प्रशिक्षण देकर उन्होंने एक 'मस्तानी टोली' का निर्माण किया। वह जहाँ निकलतीं गली मुहल्ले की स्त्रियों को प्रेरणा देती जातीं कि वो भी दुर्गा बनकर विदेशियों को देश से बाहर निकालें। अंग्रेज़ों ने आखिर जब अज़ीज़न को बंदी बना लिया तो उसे क्षमा देना चाहते थे, बशर्ते अज़ीज़न उनकी सेवा करे। अज़ीज़न ने साफ़ इन्कार कर दिया और मृत्यु-दण्ड का स्वागत किया। तब अज़ीज़न को गोली से मार दिया गया।

साधारण महिलाओं में एक थीं झलकारी बाई, जिनकी याद बुंदेलखण्ड के लोक-इतिहास ने आज तक ताज़ा रखी है। रानी लक्ष्मीबाई के 'दुर्गा दल' में झलकारी ने बंदूक व तोप चलाना सीखा। जब झाँसी के किले से रानी ने अंग्रेज़ों के आक्रमण का बलपूर्वक सामना किया तो सेना में झलकारी तथा अन्य साधारण ग्रामीण स्त्रियाँ भी वीरता पूर्वक लड़ी थीं। किन्तु अंग्रेजों की सैन्य शक्ति के सामने झाँसी का किला बचाना असम्भव था। इस समय झलकारी ने एक साहसी, नाटकीय भूमिका अदा की। झलकारी का रूप-रंग लक्ष्मीबाई से मिलता-जुलता था। रानी की सुरक्षा का उपाय बनाया गया और झलकारी ने रानी का स्वरूप धारण कर शत्रुओं को काफ़ी भरमाया। इस बीच रानी गुप्त रूप से किले से निकल गईं, जिससे वे अन्य स्थान पर मोर्चा बांधने की तैयारी कर सकें। झलकारी ने अपनी भूमिका पूरे जी-जान से निभाई और अंत में अंग्रेज़ों द्वारा उन्हें फाँसी की सज़ा दी गई।

यही नहीं, देश की असंख्य साधारण महिलाओं ने देश की सुरक्षा व आज़ादी के लिए भरपूर योगदान दिये। रानी रामगढ़ और रानी तुलसीपुर के साथ लड़ने वाली महिला टुकड़ियों के कुछ विवरण उपलब्ध हैं। बेगम हज़रत महल के साथ अनेक महिलाओं ने युद्ध-प्रशिक्षण लिया और अंत तक मैदान में लड़ती रहीं। कानपुर की अनेक अज्ञात महिलाओं ने कानपुर युद्ध में भाग लिया जिनमें हिन्दु, मुसलमान और सभी जाति की महिलाएँ थीं। हार के बाद

इन बहादुर महिलाओं ने कैसी कैसी यातनाएँ सहीं, क्या-क्या सज़ायें झेलीं, इसका कोई हिसाब नहीं है। 1857-58 के दौरान मुज़फ्फर नगर की ग्रामीण महिलाओं ने पुरुषों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों का विरोध किया तो उन्हें फाँसी पर लटकाया गया। वीरगति प्राप्त महिलाओं में आशा देवी, भगवानी, हबीबा, जमीला, मेहरी, इन्द्रकौर, मामकौर, रहीमी, राजकौर, रणवीरी और शोभा देवी के नाम हमें उस समय के रिकार्ड से मिले हैं। इसी तरह मेरठ क्रांति के समय गुड़गाँव की जिन महिलाओं ने भाग लिया व फाँसी पर लटकाई गईं उनमें थीं ग्राम रसूलपुर की बेथी, छाजुनगर की लेखा, नागली की रत्ना और पलवल की मानी। 1858 में मैसूर के गोपाल दुर्ग की स्वतंत्रता के लिए आबद्ध जिन महिलाओं ने अंग्रेज़ों की गोलियों द्वारा शहादत पाई उनमें थीं रायचूर ज़िले की इला, दुर्गा और पोंगरी देवी। निमाड़, मध्यप्रदेश में मंजू और शाह देवी को आजीवन कारावास की सज़ा मिली। जौनपुर, उत्तरप्रदेश में क्रांति-सैनिकों की सहायता के अपराध में मेहरी और माही को फाँसी की सज़ा दी गई। दिल्ली की गन्नो को क्रांति में भाग लेने के अपराध में फाँसी की सज़ा मिली।

भगवती के नेतृत्व में विद्रोह में भाग लेने पर मुज़फ्फरपुर ज़िले की 255 महिलाओं को गोली से मार दिये जाने का उल्लेख मिलता है। इसी तरह देवरिया की किसानिन देवी रानी, जौनपुर की ठुकरी, बाबरी स्टेट की सुरमी, नासिक की गंगा, दिल्ली की मोहसिनी, मुज़फ्फरनगर की असगरी बेगम और बख्तावरी सभी को क्रांति में भागेदारी के लिए कड़ी सज़ा झेलनी पड़ी।

असल में 1757 से लेकर 1857 तक का इतिहास विद्रोहों से भरा पड़ा है, जिनमें कुछ रानियों ने भाग लिया, और अनगिनत साधारण चीन्ही-अचीन्ही, जानी-अनजानी महिलाओं ने भी। मुक्ति-संग्रामों में सामूहिक शहादत के कई वारदात मिलते हैं। ये मुक्ति-संग्राम देश के कोने-कोने में समय-समय पर भड़के। उदाहरणत: मिदनापुर में 1760 के जंगल-महल के विद्रोह में अनेक महिलाओं के भाग लेने व शहीद हो जाने का उल्लेख है। 1763 से 1800 तक के सन्यासी विद्रोह में देवी चौधरानी व महारानी तपस्विनी पथ-प्रदर्शक व नेत्री थीं। दक्षिण में 1792 में कुर्ग, कोचीन, मलाबार, मैसूर और कोटायम के विद्रोहों में महिलाओं की खूब भागीदारी रही। 1798 में वीरभूम, बांकुरा के चुआड़ों के विद्रोह से चुआड़ रानी शिरोमणि का नाम जुड़ा हुआ है। चुआड़ हैं बीरभूम में रहने वाले गरीब जंगलवासी आदिवासी, जिन्होंने अपने अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी और जीत भी हासिल की। सन् 1824 में देश में जगह-जगह संगठित विद्रोह हुए, जिनमें कित्तूर व बैरकपुर के विद्रोह

शामिल हैं। और 1854-55 में संथाल विद्रोह फूट पड़ा था। 30 जून 1855 के दिन तीन हज़ार संथाल-- मर्द, औरत, बच्चे सब शामिल-- भाले और तीर-कमान थामे, मादल और ढाक बजाते हुए, जुलूस पर निकल पड़े। मुद्दा था ज़र्बदस्ती मालगुज़ारी वसूलने का विरोध। 7 जुलाई 1855 को इन्होंने अंग्रेज़ी ठिकानों पर भीषण हमले किये। शीघ्र ही अंग्रेज़ों का दमन-चक्र चला, गिरफ़्तारियाँ हुईं, मुकदमे चले, दंड मिले।

इन सभी मुक्ति-संग्रामों में महिलाओं की भूमिका रही। मध्य-अठारहवीं शताब्दी से लेकर 1858 तक के इतिहास में जो विद्रोह की ज्वालाएँ भड़कीं, उनमें महिलाओं का हाथ रहा। इनमें असंख्य अनामिकाएँ हैं जिन्होंने लड़ाई में अपनी जान न्यौछावर कर दी परन्तु जिनके बारे में हम कुछ भी नहीं जानते। कुछ गिने-चुने नाम तथा विवरण ही हमारे पास आए हैं। इनमें रानी-महारानी और नेतृत्व देनेवाली महिलाओं को ही विशेष स्थान मिला है। किन्तु उनकी बहादुरी के कारनामों के पीछे हज़ारों, लाखों साधारण महिलाओं की शक्ति और जुझारूपन की रोमांचक और प्रेरक कहानियाँ छिपी हुई हैं।

युद्ध या विद्रोह में सहभागिता के संदर्भ में इन सभी महिलाओं को इतिहास के पन्नों पर कुछ महत्त्व तो मिला है, चाहे हाशिये पर ही हो। परन्तु उनके वैयक्तिक विद्रोहों व विचारों के बारे में हमारे मन में कई प्रश्न उभरते हैं जिनका उत्तर हमें नहीं मिल पाता है। महिलाओं ने अपने खास मुद्दों और समस्याओं पर भी गौर किया होगा। महिला होने के नाते अपनी निजी आज़ादी के कई पहलुओं का सामना किए बगैर सम्मिलित लड़ाई में भाग लेना सम्भव ही नहीं। आदिवासी क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति में कुछ खुलापन रहा है। आने-जाने की आज़ादी व स्वतंत्र अस्तित्व व इच्छाओं की पहचान रही है। शायद इसलिए सम्मिलित विद्रोहों में आदिवासी महिलाएँ जमकर भाग ले पाईं। निम्न वर्ग की साधारण स्त्रियाँ भी विद्रोह की ज्वाला से तप्त असाधारण समय में घर के बाहर अपने देश की आज़ादी के लिए लड़ने निकल पड़ीं। रानी-महारानियाँ निपुण थीं और अपने राज्य व प्रजा की संरक्षण के लिए प्रतिबद्ध। परन्तु जहाँ भी महिलाएँ खुले रूप से मुक्ति-संग्रामों में भाग लेतीं और प्रताड़ित होती नज़र आती हैं, वहीं उनकी चीत्कार के साथ सुनाई पड़ती हैं असंख्य बच्चों की दर्द-भरी चीखें... और पूरे परिवारों का झेला कष्ट। जब समाज में, रोजमर्रा की जिंदगी में, पीड़ा व प्रताड़ना फैलती चली जाती है, महिलाएँ भड़क उठती हैं। दमन करने वालों के खिलाफ़ महिलाएँ अपनी आवाज़ सदा उठाती रही हैं, चाहे वो विदेशी शासक हों या स्थानीय ज़मींदार। घरेलू ज़िंदगी में असमानता और अन्याय झेलती हुई महिलाएँ आखिरकार

अपने परिवार के रूढ़िगत ढाँचों, नियमों और पाबन्दियों पर भी नज़र डालने लगती हैं।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय महिलाओं के बीच से कुछ ऐसे प्रश्न उठने लगे जिनका उत्तर पुरुष प्रधान समाज उन्हें नहीं दे सका। विद्रोहों में अपनी सहभागिता द्वारा महिलाओं ने अपनी प्रतिष्ठा बना ली थी। परन्तु समाज व परिवार में उनको पुरुषों के मुकाबले दोयम दर्जा ही मिलता रहा। महिलाओं ने धीरे-धीरे शिक्षा व राजनैतिक अधिकारों के लिए आवाज़ उठाई, और बाल विवाह, सती प्रथा व विधवा पुनर्विवाह मुद्दों पर अपनी सोच बनाई। सामाजिक कुरीतियों का विरोध महिलाएँ अपने ढंग और अपने नज़रिये से करें, ये पुरुष नेताओं और सुधारवादियों को एक हद तक ही सही प्रतीत हुआ। प्रमुख पुरुष सुधारवादी अधिकतर चाहते थे कि देश का नाम ऊँचा रहे। इस दृष्टि से उन्होंने सोचना शुरू किया कि सामाजिक कुरीतियाँ खत्म की जाएँ। किन्तु इन कुरीतियों की जड़ों तक जाना उन्हें मंजूर न था। अतः इस काल में कई अंतरद्वंद सामने आए।

1858-1905 के वर्षों को "नवजागरण काल" की उपाधि दी गई है। इस लहर में विभिन्न सुधारवादी धाराएँ फूटीं, नई संस्थाएँ उद्घाटित हुई, अनेक पुरुष व महिला समाज-सुधारक उभरे। महिला समाज-सुधारकों में प्रमुख थीं सावित्रीबाई फुले, पण्डिता रमाबाई, फ्रॉन्सिना सोराबजी, स्वर्ण कुमारी देवी, रमाबाई रणाडे इत्यादि।

सावित्रीबाई फुले महाराष्ट्र के सतारा जिले के ग्राम नायगाँव में 1831 में जन्मी थीं। बचपन से ही उनमें समाजसेवा और नेतृत्व के गुण थे। नौ वर्ष की उम्र में ज्योतिबा नामक तेरह-वर्षीय बालक से सावित्री का विवाह सम्पन्न हुआ। आगे चलकर इस दम्पत्ति ने मिलकर सामाजिक कार्यों की ज़िम्मेदारी उठाई। सावित्रीबाई ने न केवल ज्योतिबा का हाथ बंटाया बल्कि अनेक बार उनका पथ-प्रदर्शन किया। ज्योतिबा को सगुणाबाई क्षीरसागर नामक विधवा ने गोद लिया था और कठिन परिश्रम करते हुए पाला था। सगुणाबाई ज्योतिबा व सावित्री के लिए आश्रय ही नहीं, बल्कि पथदर्शिका एवं प्रेरणा स्त्रोत थीं। वे मानवतावादी थीं। उन्होंने शूद्रों की खूब सेवा की और आगे चलकर सावित्रीबाई द्वारा चलाई जाने वाली पाठशालाओं में दलित लड़कियों को निःशुल्क पढ़ाया।

उस समय स्त्री शिक्षा का प्रचलन न था। किन्तु ज्योतिबा फुले ने सावित्रीबाई व सगुणाबाई को स्वयं पढ़ाया। सुबह से दोपहरी तक तीनों खेती का काम करते और भोजन-पश्चात आमवृक्ष की छाया में भाषा, गणित और सामान्य ज्ञान आदि का पाठ होता। कुछ वर्षों बाद

सावित्रीबाई भारत की सर्वप्रथम स्त्री अध्यापिका बन गईं। इस क्रांतिकार्य का प्रखर विरोध हुआ। धर्म-पंडितों ने सावित्री को अश्लील गालियाँ देकर लांछित किया और उनपर पत्थर तथा गोबर फेंका। किन्तु उन्होंने हार न मानी। उनके अथक परिश्रम व उत्साह से स्त्री-शिक्षा का कार्य फलने-फूलने लगा। 1848 में फुले दम्पत्ति ने पुणे में लड़कियों के लिए पहला स्कूल खोला। 1851 में उन्होंने दूसरा स्कूल खोला, और 1853 में तीसरा। 1848 में ही उन्होंने लड़के-लड़कियों के लिए मिला-जुला स्कूल भी खोला था। नारी समानता के लिए भारत में यह अपनी तरह का सर्वप्रथम प्रयास था। जिससे भारत के महिला आंदोलन की एक नई धारा बहने लगी। धीरे-धीरे स्कूलों में लड़कियों की संख्या बढ़ी और अन्य स्कूल भी खुलने लगे।

महिला शिक्षा के साथ फुले दम्पत्ति ने अस्पृश्यता उन्मूलन का काम हाथ में लिया। शूद्रतिशूद्रों पर होने वाले अन्याय की परम्पराओं का उन्होंने डट के विरोध किया। बाल-विवाह प्रतिबंध, विधवा-विवाह को प्रोत्साहन, सती प्रथा की रोकथाम, बाल-हत्या प्रबंधक गृह आदि क्षेत्रों में सावित्रीबाई व ज्योतिबा फुले ने बहुत काम किया। 1871 में फुले दम्पत्ति ने बाल-हत्या प्रबंधक गृह खोला, जिसमें अनाश्रित गर्भवती महिलाओं को आश्रय, प्रसूति व बच्चों के लालन-पालन की सुविधा मिलती थी। 1876-77 में महाराष्ट्र के भीषण अकाल के दौरान उनके द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज ने अभूतपूर्व राहत कार्य सम्भाला। 1897 में जब ताऊन (प्लेग) की महामारी फैली तब सावित्रीबाई ने रोग निवारण केन्द्रों का संचालन किया। स्वयं रोगग्रस्त होकर इसी काल में उनका देहान्त हो गया।

पण्डिता रमाबाई (1858-1922) भी महाराष्ट्र की ही मानवतावादी विदुषी थीं। उन्होंने नारी शिक्षा व आश्रय के लिए लम्बे वर्षों तक महत्त्वपूर्ण काम किया। बाल विवाह व अनेक प्रकार के शोषण व अंधविश्वास के खिलाफ़ उन्होंने अपनी आवाज़ उठाई। रमाबाई के पिता प्रगतिवादी और विद्वान ब्राह्मण थे जिन्होंने अपनी बेटी को स्वयं पढ़ाया। रमाबाई के बचपन के दिन जंगल में बीते, और गाँव-गाँव, शहर-शहर भ्रमण करते। 1877 के अकाल में उनके माँ और पिता दोनों की मृत्यु हो गई। रमाबाई अपने विचार जगह-जगह पर प्रस्तुत करती थीं। स्पष्टता, तर्क-संगिता व विद्वता के कारण उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई। 1880 में उन्होंने कलकत्ता में एक शूद्र समाज-सुधारक से विवाह किया, और एक बेटी भी पैदा हुई। 1882 में ही उनके पति का देहान्त हो गया। रमाबाई पुणे आ गई और वहाँ 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की। 1883 में रमाबई ने ईसाई धर्म अपनाया। अध्यापन के लिए प्रशिक्षण लेने इंग्लैण्ड गईं। 1889 में उन्होंने विधवाओं के लिए 'शारदा सदन' नामक गृह व स्कूल बम्बई में खोला। 1900 तक रमाबाई ने 'मुक्ति सदन' नामक ग्रामीण संस्था भी खोल ली जहाँ खेती बाड़ी की जाती थी। शारदा सदन में औद्योगिक प्रशिक्षण, अध्यापिका प्रशिक्षण, सिलाई कढ़ाई इत्यादि सिखाए जाते थे। 'स्त्री धर्म नीति' व 'द हाई कास्ट हिन्दु वुमन' (उच्च जातीय हिन्दु महिला) पुस्तकें लिखकर पण्डिता रमाबाई ने दूर-दूर तक अपने प्रगतिवादी व सकारात्मक विचार फैलाये।

रमाबाई रणाडे (1862-1924) ने आजीवन महिला शिक्षा हेतु संघर्ष किया। 1881 में वे 'आर्य महिला समाज' की कर्मठ सदस्या बन गईं। आगे चलकर उन्होंने 'सेवा सदन नर्सिंग एण्ड मैडिकल एसोसिएशन' स्थापित की।

आनंदीबाई जोशी (1865-87) ने डॉक्टरी पढ़ने की ठानी और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे 1883 में अमेरिका गईं। 1886 में वे भारत लौटीं और कोल्हापुर में उत्साहपूर्वक चिकित्सा कार्य करने लगीं। अभाग्यवश 1887 में उनकी मृत्यु हो गई और एक प्रगतिवादी महिला को भारत ने अकाल खो दिया। परंतु महिलाओं के लिए उच्च-शिक्षा का मार्ग खुल चुका था। फ्रैन्सीना सोराबजी ने पश्चिमी भारत में महिला शिक्षा के लिए कई पाठशालाएँ खोलीं व उनका संचालन किया। ऐनी जगन्नाथ ने 1892 में एडिनबरो से डॉक्टरी का प्रशिक्षण पूरा किया व बम्बई में काम सम्भाला। रुक्माबाई ने भी 1895 में लंदन से डॉक्टरी की शिक्षा सम्पन्न की और 1929 तक राजकोट के अस्पताल में कार्यरत रहीं। रुक्माबाई बाल विवाहिता थीं। उन्होंने पति से अलग रहने का निश्चय किया। उनके खिलाफ कानूनी कार्यवाही हुई पर वे अटल रही थीं।

उन्नीसवीं सदी के दौरान कैलाशभाषिणी देवी ने 'भारतीय नारी' पर एक ऐतिहासिक निबंध लिखा जिसमें उन्होंने उस समय की हिन्दु महिलाओं की दयनीय स्थिति को पुरातन-काल की हिन्दु महिलाओं की उच्च स्थिति के साथ तुलना की। 1879 में केशब चंद्र सेन द्वारा स्थापित 'आर्य नारी समाज' ने हिन्दु महिलाओं को पुरातन-काल के 'सुनहरे युग' की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। इस विचारधारा के अनुसार 'आर्य-काल' में न परदा प्रथा थी न सती प्रथा, न बाल-विवाह न बहु-विवाह प्रथा। पण्डिता रमाबाई जैसी विदुषी ने अध्ययन व शोध द्वारा हिन्दू धर्म की अंतरनिहित रूढ़ियों को उजागर किया, और जड़ों तक पहुँचकर न्याय की मांग की।

सरला देवी बंगाल के प्रख्यात ठाकुर खानदान में जन्मीं। उनकी माँ स्वर्णकुमारी देवी 'भारती' नामक पत्रिका का सम्पादन करती थीं। तेइस वर्ष की उमर में सरला देवी मैसूर में लड़कियों के एक स्कूल में पढ़ाने चली गईं, ताकि वे अपना जीवन स्वतंत्रता से व्यतीत कर पाएँ। कुछ काल पश्चात वे वापस बंगाल लौटीं और 'भारती' के सम्पादन की बागडोर उनके हाथों में सौंप दी गई। सरला देवी ने आगे चलकर राष्ट्रवादी आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाई।

स्पष्ट है कि 1857-58 के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम की विफलता के बाद भारतीयों को अहसास हुआ कि लड़ाई में सफलता व लक्ष्य-प्राप्ति के लिए पहले अपनी ज़मीन मजबूत करनी होगी। राष्ट्रीय स्तर पर जन-ज्ञागरण, सामाजिक संगठन और एकता आवश्यक प्रतीत हुए। भारतीय समाज में प्रचलित कुरीतियों के उन्मूलन हेतु अनेक अभियान चलाए गए। इनमें महिलाओं का विशेष नेतृत्व रहा। महिलाओं ने सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में सुधारवादी कार्यों का ज़िम्मा उठाया। वातावरण-निर्माण में अनेक महिला-संस्थाओं और महिला पत्रिकाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाईं। शैक्षणिक कार्यों द्वारा नींव पक्की हुई जिससे आगे चलकर समाज-सुधार व राजनैतिक कार्यों में अनेक नेत्रियाँ पनप सकीं।

उन्नीसवीं सदी की महिला नेत्रियों में बाई अमन, अवंतिकाबाई गोखले, शांता तिलक, लेडी सदाशिव अय्यर, श्रीमती गुरूस्वामी चेट्टी, धनवंती रामाराव, बेगम शाहनवाज़, विद्याबहन नीलकांत, चारूलता मुखर्जी, सरला रे, हीराबाई टाटा, जानकीबाई भट्ट, रानी सेतू, पार्वतीबाई, हिला रूस्तम फेगडन, लेडी अब्दुल कादिर इत्यादि के नाम शामिल हैं। कुल मिलाकर इन्होंने समाज व राजनीति दोनों क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया व महिला-शक्ति को संगठित रूप देने की दिशाएँ बनाईं।

इसी सदी में सती-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह इत्यादि मुद्दों पर पुरुष-वर्ग में से कुछ प्रमुख समाज-सुधारकों ने अपनी तरह से सोच बनाई। राजा राममोहन रॉय ने सती प्रथा पर पाबंद लगाने के लिए अनवरत परिश्रम किया। उन्होंने 1828 में 'ब्रह्मो समाज' की स्थापना की। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने महिला शिक्षा, बाल-विवाह व विधवा-पनुर्विवाह मुद्दों पर काम करने के लिए 'समाजोन्नति विधायिनी सुहृद समिति' बनाई। ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने 'हिन्दू विधवा का विवाह' नामक पुस्त्क लिखी जिससे विधवा पुनर्विवाह की तर्क-संगत स्वीकृति का पक्ष पुष्ट होता है। गुजरात के दयानंद सरस्वती ने 1875 में बम्बई में 'आर्य

समाज' की स्थापना की। सभी भारतीय महिलाओं को वैदिक काल की गार्गी और मैत्रेई की तरह शिक्षा का अवसर प्राप्त हो, इसके लिए उन्होंने अभियान छेड़ा। आगे चलकर आर्य समाज के कार्यकर्ताओं ने देशभर में लड़कियों के लिए कई स्कूल खोले। आगरा के राय सालिगराम बहादुर ने पर्दा-प्रथा का विरोध किया, महिला शिक्षा का पक्ष लिया, और दावा किया कि धर्म की नज़र में महिला और पुरुष एक बराबर हैं। महाराष्ट्र के महादेव गोविंद राणाडे 'सार्वजनिक सभा' के सक्रिय नेता थे। महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए उन्होंने आजीवन प्रयास किया। इसी तरह महाराष्ट्र के पारसी नेता बेहरामजी मलाबारी ने बाल विवाह के प्रचलन और विधवा विवाह पर प्रतिबंध की कड़ी आलोचना की। महाराष्ट्र ही के ढोंडों केश्व कर्वे ने 1900 में 'अनाथ बालिकाश्रम' की स्थापना की, और 1907 में महिला विद्यालय की नींव डाली। स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु रामाकृष्ण परमहंस के विचारों को अपनी तरह से आगे बढ़ाया। 1897 में विवेकानंद ने 'रामाकृष्ण मिशन' की स्थापना की, जिसने समाज सुधार के अनेक कार्य हाथ लिये। रामकृष्ण मिशन की सिस्टर निवेदिता ने लड़कियों के लिए बंगाल में कई स्कूल खोले। स्वामी विवेकानंद ने उनका पथ-प्रदर्शन किया। दक्षिण भारत में वीरेसलंगम पंटुलु और सर वेंकटारमण नायडू ने महिला शिक्षा व विधवा पुनर्विवाह के लिए बहुत काम किया। वीरेसलंगम पंटुलु ने 1891 में विधवा विवाह एसोसियशन बनाई। वेंकटारमण नायडू ने देवदासी प्रथा का विरोध किया। महाराष्ट्र में गोपाल कृष्ण गोखले ने महिला शिक्षा की आवश्यकता उजागर की, ताकि महिलाएँ स्वयं अपनी स्थिति सुधार करने के लिए सक्षम बन जाएँ।

1869 में जन्मे मोहनदास करमचंद गाँधी का नाम कई मायनों में समाज-सुधारकों में सर्वश्रेष्ठ है। महिलाओं की स्थिति को लेकर उनका सोच अपने में विचित्र ही था। बीसवीं सदी में महात्मा गाँधी ने महिलाओं को खास तरह से प्रेरित किया और एक खास मान्यता व प्रतिष्ठा भी दी। इस विषय पर अगले अध्याय में विस्तृत चर्चा करेंगे। गाँधी के सोच में महिलाओं का समाज में उच्च स्थान होना आवश्यक है। साथ-साथ राजनैतिक कार्यों में भी महिलाओं की खास भूमिका पर उन्होंने ज़ोर दिया। विदेशी शासकों के खिलाफ़ स्वतंत्रता संघर्ष में गाँधी ने तमाम महिलाओं को जोड़ने का बेड़ा उठाया।

विदेशी शासकों ने उन्नीसवीं सदी से ही भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति पर अपना मत व्यक्त करना शुरू कर दिया था। भारतीय समाज-सुधारकों के साथ-साथ अंग्रेज़ी शासकों ने भी सती प्रथा की आलोचना करने का फ़ैसला किया। 1829 में सती-प्रथा पर

कानूनी प्रतिबंध लगा दिया गया। अंग्रेज़ो का खास मकसद था यह साबित करना कि भारतीय समाज संरचना बहुत पिछड़ी हुई है। परन्तु स्वयं ब्रिटेन व अन्य यूरोपीय देशों में महिलाओं के प्रति हिंसात्मक रवैया सदियों से विद्यमान था। चौदहवीं से उन्नीसवीं सदी तक यूरोप के विभिन्न देशों में हज़ारों महिलाओं को 'चुड़ैल' या 'डायन' (विच) घोषित करके सूली पर चढ़ा दिया गया था। इन महिलाओं में अधिकांश जन-सामान्य के बीच घरेलू औषधियों द्वारा सेवा-सुश्रूषा करती थीं। 'वैज्ञानिक' युग में इन महिलाओं की शक्ति व जानकारी को बल-पूर्वक नकारा जाने लगा था। ब्रिटेन में आम महिलाओं की स्थिति काफ़ी गिरी हुई थी। अन्य पश्चिमी देशों की तरह ब्रिटेन में भी उन्नीसवीं सदी में महिलाओं ने स्वयं आंदोलित होकर अपने मुद्दों पर संगठित संघर्ष जारी किये। ब्रिटेन की महिलाओं ने महिला व बालिका शिक्षा की मांग रखी। उन्होंने शादीशुदा महिला की अपनी सम्पत्ति व स्वतंत्र अस्तित्व की मांग रखी। 'नागरिक' होने की पहचान बनाने व जनतंत्र में महिलाओं को भी 'वोट' का अधिकार मिले इसके लिए उन्हें लम्बा संघर्ष छेड़ना पड़ना था।

भारत में महिलाओं की स्थिति पर दुख प्रकट करने वाले अंग्रेज़ शासक-वर्गीय पुरुष अपने देश में महिलाओं को दोयम दर्जे पर ही रखना चाहते थे। इसी तरह कुछ भारतीय समाज-सुधारक भी अंतरद्वंदों से ग्रस्त थे। वे समाज-सुधार की बात तो करते थे पर अपनी ज़िंदगी में उन प्रगतिवादी विचारों को नहीं उतार पा रहे थे। 1856 में विधवा पुनर्विवाह के लिए कानून पारित कर दिया गया था, परन्तु अगले चालीस वर्षों के दौरान देशभर में केवल लगभग पाँच सौ ऐसे विवाह हुए, और ये सभी ऐसी बाल विधवाओं के थे जो कभी अपने पति के साथ रही ही नहीं थीं। जब समाज-सुधारक जी.एच. देशमुख की पहली पत्नी का देहान्त हो गया तब उन्होंने अंतर्जातीय भोज या विधवा से विवाह इस डर से नहीं किया कि ऐसा करने पर उन्हें ब्राह्मण समाज से निष्कासित कर दिया जाता। 'सुधारवादी' होते हुए भी उन्होंने एक कम-उम्र बालिका से ही विवाह सम्पन्न किया। जब 1871 में पुणे की 'सार्वजनिक सभा' बनी तो उसके सदस्यों ने घोषित किया कि राजनैतिक कार्य सर्वप्रथम है और सामाजिक कार्य का महत्त्व बहुत कम। इस तरह 'राजनीति' और 'समाज' के बीच एक कृत्रिम रेखा खींच दी गई। महिलाओं की स्थिति में सुधार के प्रश्न को सम्पूर्ण राजनैतिक संघर्षों से दूर रखा जाए, ऐसे प्रयास भी हुए।

दयानंद सरस्वती व अन्य आर्य समाजियों ने ऐसी विधवाओं के पुनर्विवाह की कड़ी आलोचना की जो अपने पति के साथ रहीं व सम्भोग कर चुकी थीं। उन्होंने बालिका शिक्षा

को भी केवल प्राथमिक स्तर तक सही बताया और महिलाओं के लिए उच्च शिक्षा का विरोध किया। 1884 में दादाजी भीखाजी नामक व्यक्ति ने अपनी बीवी रुक्माबाई के खिलाफ़ न्यायालय में केस दर्ज किया। बचपन में दोनो का विवाह हुआ था। परन्तु रुक्माबाई ने शिक्षा प्राप्त की और अपने पति के साथ रहने से इन्कार किया। इस पर बाल गंगाधर तिलक ने महिला शिक्षा की अवहेलना करते हुए कहा कि इस शिक्षा द्वारा हमारे पुरातन धर्म पर हमला हो रहा है। न्यायालय ने रुक्माबाई के खिलाफ़ निर्णय दिया। परन्तु रुक्माबाई ने उसे मानने से इन्कार कर दिया, जिस पर उसे धर्म से निष्कासित कर दिया गया। तत्पश्चात इसी जुझारू महिला ने डॉक्टरी की शिक्षा हासिल की, और 91 वर्ष की उमर तक जीवित रहकर जन-मानस की सेवा व पथ-प्रदर्शन किया।

पुरुष-वर्ग के समाज-सुधारकों में अंतरद्वंद्वों की निराली ही गाथा है। एक उदाहरण है– रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा बाल-विवाह का समर्थन करना। विवाह-स्वीकृति की न्यूनतम आयु तय करने के लिए विभिन्न सुधारकों ने अभियान छेड़ा। 1889 में बाल गंगाधर तिलक ने सुधारवादी संकल्प लिया था कि अपनी बेटियों को शिक्षित करेंगे। परन्तु 1891 में ही उन्होंने आग्रह किया कि विवाह की न्यूनतम आयु बारह वर्ष की न होकर बारह वर्ष से कम ही रहे।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक जहाँ अंग्रेज़ी शासक अपने पासे फेंकने और साज़िशें करने में लगे हुए थे, वहीं अनेक मत के पुरुष विभिन्न राजनैतिक व सामाजिक सोच बना रहे थे। धर्मान्धों में हिन्दू फ़िरकापरस्ती बढ़ रही थी, और साथ-साथ मुसलमान फ़िरकापरस्ती ने भी बल पाया। साम्प्रदायवाद की लहर फैली। राष्ट्रवाद के उगते सूरज के साथ-साथ देश के रंगमंच पर यह सभी ताकतें मौजूद थीं।

इस सब उथल-पुथल के बीच हमने देखा है कि अनेक महिलाओं ने अपनी खास पहचान बनाई। महिलाओं में भी अनेक मत थे। यह ज़ाहिर है, और स्वभाविक भी। परन्तु मिला-जुलाकर राजनीति व सामाजिक जीवन में महिलाओं के स्वतंत्र अस्तित्व की मान्यता बने, ऐसी दिशा साफ़ होने लगी। महिलाएँ स्वयं अपने लिए अपने विचार व इच्छाएँ व्यक्त करें-- इसकी स्वीकृति धीरे-धीरे होने लगी। महिलाओं में नए संकल्प जाग उठे। अपनी बात खुलकर, समाज व देश के मंच पर कहने की हिम्मत बनने लगी।

महिलाओं के लिए सामाजिक व राजनैतिक आंदोलन एक दूसरे से गुंथे हुए हैं-- यह तथ्य उन्नीसवीं सदी की जुझारू महिलाओं के संघर्षों द्वारा साबित होता है। 'राजनीति', 'समाज'

व 'धर्म' को अलग अलग खाके में रख देना पुरुष प्रधान मानसिकता के लिए आवश्यक है। महिलाओं ने जब अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ी, तो समाज की रूढ़ियों की ठोकर खाई, धर्म व राजनीति के ठेकेदारों का तमाचा सहा। महिलाओं के संघर्षों की रोमांचक गाथा बीसवीं सदी में किन-किन गली-कूचों से गुज़रती हुई इक्कीसवीं सदी तक पहुंच गई है-- यह देखते हैं अगले अध्यायों में।



तीसरा अध्याय

1900-47 : राजनीति और समाज

देशभर में स्वराज्य की मांग लहर बनकर फैली, साथ में महिला आंदोलन का स्वरूप बदलता रहा। बीसवीं सदी के पहले दशक से लेकर 1940 दशक तक महिलाओं की राजनीतिक सूझ-बूझ व भागेदारी कई पहलुओं से गुज़री।

1900 दशक के दौरान **'स्वदेशी' आंदोलन** ने जगह-जगह रंग जमाया। गुजरात, बंगाल, महाराष्ट्र व अन्य प्रान्तों में भारी तादाद में लोगों ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने की प्रतिज्ञा ली। स्वदेशी प्रदर्शनियाँ आयोजित की गईं, स्वदेशी-समर्थक नाटक खेले गए, और विदेशी वस्तुओं का ढेरे लगाकर लोगों ने उन्हें जला दिया। इन कार्यक्रमों में महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई। उस समय महिलाएँ अधिक शिक्षित नहीं थीं। घर-घर में चर्खा चलता ही था। महिलाओं ने अब चर्खे से सूत कातने का काम अधिक उत्साह से निभाया। घर-घर से राष्ट्रीय स्वदेशी फ़ंड के लिए मुठ्ठी भर अनाज व आभूषण-दान हुआ। बंगाल में सरोजनी बोस और कुमुदिनी मित्तर, पंजाब में सुशीला देवी, लाहौर में हर देवी, हिसार में पूरन देवी, दिल्ली में आज्ञावती और वेद कुमारी इत्यादि ने अपने-अपने क्षेत्र में भाषण दिये, सभाएँ आयोजित कीं, व लाखों महिलाओं को स्वदेशी आंदोलन के साथ जुड़ने के लिए प्रोत्साहित किया। गुजरात और महाराष्ट्र में अवंतिकाबाई गोखले, ऐसुबाई सावरकर, बाया कर्वे, यशोदाबाई आगरकर और सत्यभामा तिलक आदि प्रसिद्ध नेत्रियाँ थीं जिन्होंने स्वदेशी आंदोलन में सक्रिय योगदान दिया।

क्रांतिकारी गतिविधियों में भी महिलाओं की भूमिका सक्रिय रही हालांकि भारत के **क्रांतिकारी आंदोलन** की शुरूआत पुरुषों ने ही की थी, पर अनेक महिलाओं ने क्रांतिकारी गतिविधियों में अविस्मरणीय भूमिकाएँ निभाई। भीकाजी कामा, प्रीतिलता वाडेडर, कल्पना दत्त, लक्ष्मी सहगल इत्यादि के नाम क्रांति के अग्रिम पंक्ति के नेताओं में लिए जाते हैं। महिलाओं ने सशस्त्र हमलों में भाग लिया; भूमिगत कार्यवाहियों में सक्रिय रहीं; और बड़े पैमाने पर आत्म-बलिदान भी दिया।

मैडम भीकाजी रुस्तम कामा (1861 1936) 1885 से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सक्रिय कार्यकर्त्री बन गईं थीं। सम्पन्न घर की यह पारसी युवती समाज कल्याण के कार्यों में लग गईं। 1905 में वे लंदन पहुँचीं और दादाभाई नौरोजी के साथ काम करने लगीं। वहीं उनकी भेंट प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा से हो गई। तभी से भीकाजी ने खुल्लमखुल्ला अंग्रेज़ी शासन के खिलाफ़ भाषण देने शुरू कर दिये--और वो भी इंग्लैण्ड में। 1907 में वो जर्मनी गईं, वहाँ अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में भारत का प्रथम राष्ट्र-ध्वज फैलाया। आगामी वर्षों के दौरान उनकी वाणी यूरोप के अनेक देशों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की खिलाफ़त में गूंजती रही। पैरिस में उनका घर क्रांतिकारियों का आश्रम-स्थल बन गया। उनकी गतिविधियों से डरकर अंग्रेज़ अधिकारियों ने मैडम कामा के इंग्लैण्ड व भारत-प्रवेश पर रोक लगा दी। फ़्रांस में ही रहकर उन्होंने 'बन्दे मातरम्' पत्र का प्रकाशन शुरू किया। इस प्रकाशन द्वारा.वे स्वतंत्रता का जय-घोष और क्रांतिकारियों का अभिनंदन करती रहीं। पैंतीस वर्ष लम्बी अवधि का निष्कासित जीवन बिताने के बाद सन् 1935 में उन्हें इस शर्त पर भारत आने दिया गया कि वो यहाँ राजनीति में भाग नहीं लेंगी। रुग्णावस्था में लौटी चौहत्तर-वर्षीय भीकाजी 1936 में चल बसीं।

बंगाल में ननी बाला देवी 1916 से क्रांतिकारी गतिविधियों में शामिल हो गई थीं। क्रांतिकारियों के लिए आश्रय-स्थल जुटाने, फ़ंड एकत्रित करने, गुप्त दस्तावेज़ इधर से उधर पहुँचाने आदि कार्यों में उनका योगदान रहा। पुलिस ने ननी बाला को गिरफ़्तार किया और बेहद अमानवीय यातनाएँ दीं। क्रूर यातनाओं के बावजूद इस साहसी महिला ने कोई भी सूचना देने से इन्कार किया।

बंगाल में ही 1900 दशक के दौरान सरला देवी चौधरी ने अरविंद घोष, जितेन्द्रनाथ बनर्जी, व विपिन पाल के साथ क्रांतिकारी गतिविधियों का उद्घाटन किया। 'सुहृदय समितियों' द्वारा वे युवा सदस्यों को व्यायाम, ड्रिल, छुरा, तलवार व पिस्तौल चलाना सिखाती थीं। परन्तु आतंकवादी षड्यंत्रों व डकैतियों का उन्होंने विरोध किया। आगे जाकर उन्होंने लाहौर में लाहौर षड्यंत्र केस के दौरान गुप्त पर्चे बाँटे। पोस्टर छापे व बाँटे तथा अन्य सहयोग दिया। क्रांतिकारी आतंकवादियों में शामिल हैं चिट्टगांग शस्त्रागार कांड की गतिविधियों से जुड़े कई महिलाओं के नाम- सुहासिनी गांगुली, सावित्री देवी, प्रीतिलता वाडेडर, और कल्पना दत्त। 1930-32 में घटी उनकी गतिविधियाँ भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। प्रीतिलता अपने साथियों के साथ साम्राज्यवादी सेना का विरोध कर रही थीं-

हथियार व गोली द्वारा। कई साथी एक समर्थक सावित्री देवी के घर में छिप गए थे। फिर प्रीतिलता को भेजा गया एक यूरोपीय क्लब पर हमला करने। अपने दल को प्रोत्साहित करते हुए प्रीतिलता ने हमला किया। क्लब की इमारत बमों के धमाकों और पिस्तौलों की गोलियों से हिल उठीं। अंग्रेज़ों की तरफ़ से भी गोली चली और प्रीतिलता घायल हो गईं। तुरन्त ज़हर की पुड़िया खोलकर उसने ज़हर खाकर वहीं शहादत प्राप्त कर ली। उस समय वो केवल सत्रह वर्ष की बालिका थीं। इसी तरह कल्पना दत्त भी केवल सोलह बरस की थीं जब उन्होंने आतंकवादी गतिविधियों में भाग लेना शुरू किया। 1932 में पुलिस उनका पीछा कर रही थी और कल्पना व उनके साथी भूमिगत होकर एक जगह से दूसरी जगह भटक रहे थे। आखिर वो गिरफ़्तार हुईं और उन्हें उम्र कैद की सज़ा मिली। देश की आज़ादी के साथ वो रिहा हुईं, और कौम्यूनिस्ट पार्टी-मार्क्सिस्ट की समर्पित कार्यकर्ता बन गईं।

बंगाल में ही शांति घोष व सुनीति चौधरी दो स्कूली छात्राएँ थीं जिन्होंने 1930 में कुमिला के ज़िला मजिस्ट्रेट स्वीटन्स पर पिस्तौल से हमला किया। स्टीवन्स की मौत हुई और इन दोनो युवतियों को आजन्म काले पानी भेज दिया गया। इस घटना ने सारे देश को झकझोर डाला।

1934 में उज्जवला मजूमदार को गवर्नर एंडर्सन गोली-कांड के तहत गिरफ़्तार किया गया और बीस साल की कड़ी कैद की सज़ा मिली। लीला नाग ने ढाका में क्रांतिकारी लड़कियों की प्रशिक्षण संस्था 'दीपाली संघ' की स्थापना की। 1923 से 1931 तक इस संघ ने सैकड़ो लड़कियों को प्रशिक्षित किया।

उत्तरप्रदेश, दिल्ली व पंजाब के क्रांतिकारी संगठनों में भी महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई। इनमें शामिल थीं दुर्गा भाभी, जो भगतसिंह, सुखदेव व चन्द्रशेखर की सहायिका रहीं। उन्होंने क्रांतिकारियों का समर्थन करते हुए बहुत जोखिम उठाया। 1932 में स्वंय दुर्गा भाभी ने बम्बई के पुलिस कमिश्नर पर गोली चलाई। भगतसिंह व अन्य क्रांतिकारियों की एक और घनिष्ट समर्थक थीं सुशीला दीदी। काकोरी कांड के कैदियों के मुकदमे की पैरवी के लिए सुशीला दीदी ने संजोया हुआ अपना दस किलो सोना दे दिया। लाहौर षड्यंत्र केस के बाद फ़रार भगतसिंह जब कलकत्ता पहुँचे तो सुशीला दीदी ने कलकत्ता में अपनी महिला-टोली के साथ 'मेवाड़-पतन' नामक नाटक खेला और जगह-जगह झोली फैलाकर क्रांतिकारियों के लिए फ़ंड एकत्रित किया। कश्मीर बिल्डिंग में सिख लड़के का भेष धारण करके सुशीला दीदी ने बम बनाने का प्रशिक्षण लिया। उनके नाम 1932 में दो वारंट जारी थे।

1931 के बनारस बम कांड में श्रीमती मृणालिनी देवी ने भाग लिया जिसके लिए उन्हें सात वर्ष की कड़ी कैद मिली। कानपुर की श्रीमती सुनीति देवी व उनकी पुत्री माया देवी चंद्रशेखर आज़ाद के दल में सक्रिय थीं। परन्तु कड़ी कैद के दौरान उन्हें क्रूर यातनाएँ सहनी पड़ीं और क्षय रोग से ग्रस्त होकर उनकी मृत्यु हो गई। लाहौर की लीला व स्वदेश और जालंधर की कुमारी लज्जावंती व शन्नो देवी ने भी अजा़दी के इस युग में क्रांतिकारी आतंकवादियों का समर्थन किया।

1900–1947 काल के दौरान **महिला सक्रियता की अनेक धाराएँ** थीं। 1910–20 वाले दशक में **भारत-व्यापी महिला संगठन** बनाने की पहल हुई। इससे पूर्व कई स्थायी या प्रांतीय महिला संगठन स्थापित हुए थे--बंगाल में 'बंग महिला समाज' तथा 'अघोरकामिनी नारी समिति'; महाराष्ट्र में 'सतारा अबलोन्नति सभा'; बंगलौर में 'महिला सेवा समाज'; बनारस में 'भारत महिला परिषद'; अलाहबाद में 'प्रयाग महिला समिति' इत्यादि।

1917 में मद्रास में 'भारतीय महिला एसोसिएशन' का उद्‌घाटन हुआ। इसकी संस्थापिकाएँ थीं ऐनी बेसंट, डौरथी जीनराजदास, मालती पटवर्धन, अम्मू स्वामीनाथन, श्रीमती दादाभौय और श्रीमती अम्बुजम्मल। ऐनी बेसन्ट का 'होम रूल' आंदोलन उस समय तीव्र था। इस आंदोलन में महिलाओं ने सक्रिय भाग लिया।

1917 के कांग्रेस अधिवेशन में ऐनी बेसन्ट को प्रेसिडेंट चुना गया। सरोजनी नायडू व बेगम अम्मन बीबी ने भी इस अधिवेशन में भाग लिया।

1917 में महिलाओं की एक मण्डली ने भारतीय महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए शेम्सफ़्रोर्ड कमेटी के सामने कुछ मांगे रखीं। इस मण्डली को मारग्रेट कजि़न्स ने आयोजित किया, और इसमें शामिल थीं सरोजनी नायडू व बारह और महिलाएँ। मण्डली ने महिलाओं के लिए शिक्षा की सुविधाएँ, स्वास्थ्य और जच्चा के लिए सुविधाएँ और मताधिकार की मांगे सामने रखी थीं।

1926 में 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' (ऑल इण्डिया विमिन्स कांफ्रेंस की स्थापना हुई। आगामी वर्षों में इस संस्था की कई शाखाएँ बनीं। कई शहरों-कस्बों में इसकी गतिविधियाँ फैलीं। भारतीय महिलाओं की सामाजिक व राजनीतिक मांगों को ज़ोरदार तरीके से उठाया गया। इस संस्था की संस्थापकों में थीं कमलादेवी चट्टोपाध्याय, सरोजनी नायडू, राजकुमारी अमृत कौर, पिरोज़ बाई फिरोज़शाह मेहता, नेली सेनगुप्ता, अनसुया

साराबाई इत्यादि विख्यात महिलाएँ।

कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने 1921 में **गांधीवादी असहयोग आंदोलन** में भाग लिया था। 1926 में वो मंगलोर में चुनाव में खड़ी हुई, और कुछ ही वोटों से हारीं। 1926 में जब अखिल भारतीय महिला कांग्रेस की स्थापना हुई तब कमलादेवी इसकी सेक्रेटरी बनीं। इसका काम उन्होंने 1930 तक बेहतरीन तरीके से सम्भाला। 1929 में प्राग के अंतर्राष्ट्रीय महिला कांग्रेस में कमलादेवी ने भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया। 1930 में नमक सत्याग्रह व नागरिक असहयोग आंदोलन में वो कूद पडीं।

सरोजिनी नायडू राष्ट्रवादी व नारीवादी महिला थीं, जिन्होंने भारतीय महिला आंदोलन पर अपना गहरा छाप छोड़ा। विधवा पुनर्विवाह, महिला शिक्षा व महिलाओं के लिए वोटिंग अधिकार आदि मुद्दों के लिए उन्होंने निरंतर काम किया। 1914 से उन्होंने गाँधीजी के साथ काफ़ी काम किये। 1919 में महिलाओं तक सत्याग्रह का संदेश पहुँचाने के लिए वे जगह-जगह घूमीं। सरोजिनी नायडू कांग्रेस से जुड़ी थीं और मुस्लिम लीग से भी। 1921 में जब बम्बई में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए तब सरोजिनी नायडू दंगा-ग्रस्त इलाकों में गईं और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयास किये। 1924 में साऊथ अफ्रीका गईं। 1925 में उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रेसीडेंट चुना गया– इस पद को सम्भालने वाली पहली महिला वे ही रहीं। 1928 में भारतीय महिलाओं की स्थिति पर उन्होंने अमरीका में भाषण दिये। 1949 (जब उनका देहान्त हुआ) तब उनका जीवन समाज सुधार व राजनैतिक कार्यों में गुज़रा। साथ में वे सुरीली वाणी वाली अद्‌भुद कवियित्री भी थीं।

1920 दशक की **समाज-सुधारक महिलाओं** में लज्जावन्ती का नाम गिना जाता है। आर्य समाजी माता-पिता की यह पुत्री शिक्षित हुई, और 1919 में आर्य कन्या महाविद्यालय की प्रधानाचार्य (प्रिंसिपल) बन गईं। यहां अध्यापिकाओं व छात्राओं में राष्ट्रवादी भावनाएँ विकसित हुईं। लज्जावंती स्वयं देशभक्त थीं, और यही भावना उन्होंने महाविद्यालय के सदस्यों को दी।

अनुसुया साराभाई सम्पन्न घराने की शिक्षित महिला थीं जिन्होंने श्रमिकों के लिए काम किया। वो गाँधीवादी थीं और अहमदाबाद के कपड़ा मिल के मज़दूरों के लिए उन्होंने रात्री विद्यालय खोले। 1930 दशक के दौरान वे अखिल भारतीय महिला कांग्रेस की सक्रिय कार्यकर्ता भी रहीं।

लाहौर में लाडो रानी जुतशी 1920-21 के बहिष्कार आंदोलन व खिलाफ़त आंदोलन में सक्रिय थीं। महिलाओं के बीच उन्होंने इस समय खास मेहनत की। इनकी व इनके साथियों की मेहनत के फलस्वरूप हज़ारों की तादाद में महिलाएँ जुलूस व सभाओं में निकल आई थीं।

1920-21 में बम्बई में महिलाओं ने दारू की दुकानों पर धरने दिये। इस कार्य में सरोजिनी नायडू, उमा कुंदापुर, नंदूबेन कनूगा, पेरिन कैप्टिन और मनीबेन पटेल शामिल थीं। इसी काल के दौरान बम्बई में महिलाओं ने 'राष्ट्रीय स्त्री सभा' की स्थापना की। इस सभा ने खादी के लिए बम्बई-भर में अभियान छेड़ा, हड़ताल आयोजित किये और चर्खा को लोकप्रिय बनाने की कोशिश की। 1921 से 1930 तक हरीजनों के लिए विद्यालय भी खोले।

इसी दशक में कलकत्ता में बसंती देवी, उर्मिला देवी और सुनीति देवी ने 'नारी कर्म मंदिर' की स्थापना की। खादी का प्रचार और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने में इन्होंने भरी योगदान दिया।

1921 के कांग्रेस सेशन में 144 महिलाएँ शामिल थीं। 1923 के नागपुर झण्डा सत्याग्रह में महिलाएँ सक्रिय थीं। नागपुर में एक महिला, भक्तिबेन देसाई, ने राष्ट्रवादी अभियानों का नेतृत्व किया।

कस्तूरबा गाँधी 1910 दशक से लेकर 1940 दशक तक राष्ट्रवादी गतिविधियों के भँवर से घिरी रहीं।कस्तूरबा गाँधी जी की पत्नी ही नहीं, बल्कि सहकर्मी और सहायक थीं। गाँधी जी हमेशा बताते थे कि सत्याग्रह का पाठ उन्होंने कस्तूरबा से ही सीखा है। हर मोड़ पर कस्तूरबा ने गाँधी जी का साथ दिया। स्वयं उनका ज़ीवन कष्टमय रहा। देश की आज़ादी का कठिन व्रत तो उन्होंने लिया ही था, साथ में अन्य स्वतंत्रता-संग्रामियाँ की सेवा-सुश्रूषा में लीन रहती थीं। कस्तूरबा की प्रेरणा का ही नतीजा था कि देश में लाखों अशिक्षित, किन्तु साहसी और दृढ़ महिलाएँ अपने घर की चारदीवारी से निकलीं और स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़ीं। कस्तूरबा स्वयं अशिक्षित थीं परन्तु 1920-22, 1930-32 व 1942 में उन्होंने धरनों-जलूसों का नेतृत्व किया। 1942 में तीसरी बार कस्तूरबा जेल गईं, और 1944 में उनका निधन हो गया।

राष्ट्रवादी गाँधीवादी आंदोलनों में महिलाओं की लगातार सराहनीय भूमिका रही। हालाँकि लाखों-लाख महिलाओं का योगदान रहा, तब भी कुछ-एक चीन्ही-अचीन्ही महिलाओं का

नाम पथ प्रदर्शकों में गिना जा सकता है। इन महिलाओं में शामिल हैं पार्वती देवी, बाई अम्मन, अरुणा आसफ़ली, शाम देवी, नेली सेनगुप्ता, सुभद्रा कुमारी चौहाण, कमला नेहरू, मणिबेन बल्लभ बाई पटेल, विजयलक्ष्मी पण्डित, दुर्गाबाई देशमुख व सुशीला नैयर।

पंजाब की पार्वती देवी ने सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों में अहम् भूमिका निभाई। वे शिक्षित थीं और 1905 में उनका विवाह बिना पर्दे, बिना दहेज, व जाति के बाहर किया गया। पार्वती देवी अध्यापिका बनीं और बाद में अपने गाँव कमालिया की कन्या पाठशाला की प्रधान-अध्यापिका। 1919 के 'रौलेट एक्ट' व जलियाँवाला बाग कांड के उपरान्त विदेशी हुकूमत के खिलाफ लड़ाई तीव्र हुई। पार्वती देवी अध्यापन कार्य के साथ कांग्रेस-कार्य भी करने लगीं। अन्य स्त्रियों के साथ वे भी घर-घर जाकर चन्दा इकट्ठा करतीं और सभाओं में देशप्रेम का पाठ पढ़ातीं। लाला लाजपत राय उनके भाषणों से प्रभावित हुए और कांग्रेस-कार्य के लिए उन्हें लाहौर बुला लिया। पर्दा-प्रथा व छुआछूत के खिलाफ़ भी पार्वती देवी आवाज़ उठाती रहीं। जगह-जगह सभाओं में खुलकर अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ बोलती रहीं। 1922 में उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और दो साल की कड़ी कैद की सज़ा मिली। जेल से निकलीं तब वे भगतसिंह के क्रांतिकारी गुट की सहायता करने लगीं। 1930 में आगरा से कई दर्जन महिला कांग्रेस कर्मियों को साथ लेकर उन्होंने 'राष्ट्रीय महिला समिति' सक्रिय बनाई। एक 'कुमारी सभा' स्थापित की, और बच्चों की 'वानर-सेना' खड़ी की। विदेशी वस्त्रों व शराब की दुकानों पर रोज़ महिलाएँ धरना करने लगीं। महिलाओं के जलूस निकले। 1930 में पार्वती देवी को फिर गिरफ़्तार कर लिया गया। 1932 में गाँधी-इरविन पैक्ट की खिलाफ़त करते हुए वे फिर गिरफ़्तार हुईं और तीसरी बार जेल की सज़ा काटी। 1941 में पार्वती देवी फिर से गिरफ़्तार हुईं-'व्यक्तिगत सत्याग्रह' करते हुए। 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में भाग लेने के लिए उन्हें छठी बार जेल भेज दिया गया।

बाई अम्मन भी पंजाब की मशहूर नेत्री रही हैं। जब दोनो बेटे मुहम्मद अली व शौकत अली गिरफ़्तार हुए तब बाई अम्मन ने बुर्का उतारा और महिला सभाएँ संगठित कीं। मिली-जुली सभाओं में भी भाषण दिये। असहयोग आंदोलन में कूदने से पहले भी बाई अम्मन महिला संस्थाओं के माध्यम से मुस्लिम महिलाओं में शिक्षा व जागृति लाने में सक्रिय थीं। खादी-प्रचार व हिन्दू-मुस्लिम एकसाथ खायें-पियें व अंतर-धर्मीय विवाह हों, यह उनका मत था। ये प्रचार उन्होंने गाँव-गाँव में जाकर किए। साथ में स्वदेशी और ग्राम पंचायतों की पुनर्स्थापना पर ज़ोर दिया।

मणिबेन बल्लभ भाई पटेल देश भक्ति व त्याग बलिदान के वातावरण में पलीं तथा गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद में पढ़ीं। 1920 में गाँधी के आवाहन पर उन्होंने सरकारी स्कूल का बहिष्कार किया और असहयोग आंदोलन में कूद पड़ीं। 1928 से 1947 तक वे अपने पिता सरदार बल्लभभाई पटेल के साथ हर सत्याग्रह हर आंदोलन में सक्रिय रहीं। गुजरात व भारत के अन्य प्रान्तों के दौरे कर स्त्री-जागरण, स्वदेशी-प्रचार, कांग्रेस-संगठन, गाँवों में रचनात्मक कार्य के लिए जनमत-निर्माण में व्यस्त रहीं। इन कार्यों की वजह से उन्हें 1930, 1930-32, 1938-39 व 1942-45 के दौरान जेल की सज़ाएँ काटनी पड़ीं।

राजकुमारी अमृत कौर 1930 के **नमक सत्याग्रह** में सक्रिय हुईं और बम्बई में गिरफ़्तार होकर जेल गईं। वे सोलह वर्ष तक गाँधी जी की निजी सहायक रहीं और गोलमेज़ कांफ्रेस में उनके साथ भाग लिया। भारतीय मतधिकार के प्रश्न पर वे कार्यरत रहीं, विशेषकर महिला-मतधिकार। 1942 के **'भारत छोड़ो आंदोलन'** में उन्होंने कई जुलूसों का नेतृत्व किया, और गिरफ़्तार होकर जेल गईं। राजकुमारी अमृत कौर प्रारम्भ से ही 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' से जुड़ी थीं। 1931 में इस संस्था की अध्यक्षा व कई साल तक मंत्री भी रहीं। महिला-शिक्षा, महिला स्वास्थ्य, बाल-स्वास्थ्य और खेल-कूद में उनकी विशेष रुचि रही और इन क्षेत्रों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य निभाये।

विजयलक्ष्मी पण्डित स्वतंत्रता-संग्राम में अनुपम योगदान देने वाली नेत्रियों की अग्रगणी पंक्ति में हैं। भाई जवाहरलाल नेहरू का साथ तो दिया ही, अपने विचित्र व्यक्तित्व की छाप जगह-जगह पर छोड़ती गईं। वो देश-भक्त थीं और साथ में महिला-अधिकारों के लिए विद्रोहिणी भी। भारतीय नारियों के सामाजिक शोषण के विरुद्ध उन्होंने अपनी कमर कस ली थी। कांग्रेस-संगठन व प्रचार के साथ-साथ वे अनेक महिला संस्थाओं और समाज कल्याण गतिविधियों के साथ जुड़ी थीं। गाँधीवादी आंदोलनों के युग में विजयलक्ष्मी पण्डित हर पड़ाव पर मौजूद थीं - जिस वजह से 1932, 1941 और 1942 में उन्हें जेल की यातनाएँ सहनी पड़ीं। जब 1937 में प्रांतीय सरकारें बनीं, तब विजयलक्ष्मी पण्डित उत्तर-प्रदेश के मंत्रीमंडल में शामिल हुईं। भारत की पहली महिला मंत्री होने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है।

नेली सेनगुप्ता ने भी राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाई व अनेक बार जेल-यात्रा की। 1933 में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षा चुनी गईं। 1921 के असहयोग आंदोलन से लेकर 1947 की स्वतंत्रता तक वे लगातार भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के कार्यों में जुटी रहीं।

1933, 1936 व 1940 में उन्हें कलकत्ता कारपोरेशन के 'एल्डरमैन' पद के लिए चुना गया, और 1946 में चटगाँव से लेजिस्लेटिव असेम्बली में वे निर्वाचित हुईं।

सवित्री देवी (हेलेन) एक नेपाली महिला स्वतंत्रता सेनानी थीं। सन् 1922 में असहयोग आंदोलन में भाग लेने के कारण उनके खिलाफ़ वारंट निकला। उस समय वे सिक्किम में थीं। एक से दूसरी जगह घूमती रहीं। खरसांग में जुलूस निकालते समय चालीस स्वयं सेवकों के साथ उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। जेल से रिहाई के बाद उनके राजनीतिक कार्यों पर तीन साल का प्रतिबंध लगा। तीन साल के बाद वे फिर सामाजिक व राजनीतिक कार्यक्षेत्र में उतर आईं। 1939 में वे सरसांग म्युनिसिपेलिटी की प्रथम महिला कमिश्नर चुनी गईं। अगले वर्षों में उन्होंने नेताजी सुभाष बोस की सहायता भी की।

नेताजी सुभाष चंद्र बोस के सशस्त्र आंदोलन में लक्ष्मी सहगल ने अहम् भूमिका निभाई। वे डाक्टर थीं और मद्रास से बर्मा आकर मरीज़ो की देखभाल में जुट गई थीं। जब सुभाष बोस ने आज़ाद हिन्द फ़ौज का पदार्पण किया तब महिला-सेनानियों का नेतृत्व लक्ष्मी सहगल के हाथों में सौंप दिया। कमांडर लक्ष्मी सहगल ने रानी झांसी रेजीमेंट के संचालन का उत्तरदायित्व पूरी लगन व हिम्मत के साथ निभाया। वह आज़ाद हिन्द सरकार में नारी कल्याण और मेडीकल सोशल वेलफेयर की मिनिस्टर भी थीं। आज़ाद हिन्द फ़ौज पर क्रूर हमले के बाद इसके सेनानियों पर मुकदमे चले। आगे चलकर लक्ष्मी सहगल वामपंथी नेता बनीं।

स्वतंत्र-सेनानियो में एक और प्रमुख महिला थीं अरुणा आसफ़अली। छात्र-जीवन से ही वे गाँधी जी से प्रभावित थी। अंतरधर्मीय विवाह करके उन्होंने समाज की रूढ़ियाँ तोड़ीं और रूढ़िवादियों का सामना भी करना पड़ा। जीवनभर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काम किया और राजनैतिक कार्य भी सम्भाले। 1930 के नमक सत्याग्रह के समय वे राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम की एक अग्रणी नेत्री के रूप में सामने आ गई थीं। कई बार उन्हें जेल की यात्रा करनी पड़ी। 1941 में 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' करते हुए पकड़ी गईं। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में वे भूमिगत हो गईं। जेल से बाहर रहकर आंदोलन को चलाने का काम उन्हीं ने सम्भाला। गुप्त पर्चे छपते व बँटते रहे। राममनोहर लोहिया के साथ मिलकर उन्होंने 'इन्कलाब' नामक मासिक पत्रिका का कार्यभार सम्भाला। भूमिगत अरुणा आसफ़अली तभी बाहर आईं जब 1946 में उनके विरुद्ध गिरफ़्तारी का वारंट वापस लिया गया। अरुणा आसफ़अली वामपंथी विचारों की समर्थक रहीं और महिला संगठनों के साथ जुड़ी रहीं।

वामपंथी आंदोलन में महिलाओं की भूमिका प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण रही। अरुणा आसफ़अली के अलावा कई ऐसी महिलाएँ थीं जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के काल में अपना अनुपम योगदान वामपंथ से जुड़कर दिया। इनमें शामिल थीं रेणु चक्रवर्ती, कल्पना दत्त (चटगाँव शास्त्रगार काण्ड के बाद जेल से रिहाई के बाद वे वामपंथी आंदोलन में कूद पड़ी थीं), विमला फ़रूखी, गोदावरी पारूलेकर, सुषमा सेनगुप्ता, सरला गुप्ता, कनक दासगुप्ता, कल्याणी मुखर्जी, शांति सरकार, मंजुश्री देवी, उमा देवी व सैकड़ों-लाखों अन्य महिलाएँ।

अपनी पुस्तक 'भारतीय महिला आंदोलन में कॉम्यूनिस्ट्स' में रेणु चक्रवर्ती 1940 दशक में वामपंथी महिलाओं की गतिविधियों का जीता-जागता चित्रण करती हैं। 1939 से राजनैतिक कैदियों की रिहाई के लिए आंदोलन चल रहा था, जिसमें शामिल थीं कनक दासगुप्ता, कल्याणी मुखर्जी, 'स्त्री संघ' की अनेक सदस्याएँ, भूमिगत 'वामपंथी दल' (कॉम्यूनिस्ट पार्टी) की सदस्याएँ, तथा कांग्रेस महिला संघ की सदस्याएँ। मणिकुन्तला सेन ने इस आंदोलन के दौरान कई प्रेरणादायक भाषण दिये। इस अभियान के साथ विदेशी साम्राज्य के खिलाफ़ संघर्ष और तीव्र हुआ। 1939-40 में छात्राओं का संगठन बना जिसमें अनेक जुझारू विचारधाराओं की महिलाएँ शामिल हुईं। 1940 में लखनऊ में छात्राओं का विशाल जलसा व सभा हुई। इसके बाद बंगाल, पंजाब और अन्य प्रांतों में छात्राओं को संगठित करने का काम गति पकड़ने लगा। 1941 में दिल्ली में लगभग बीस हज़ार छात्राओं ने जुलूस निकाला, जिसमें सरला गुप्ता इत्यादि वामपंथी महिलाएँ भी शामिल थीं। पंजाब में शीला भाटिया ने बंगाल अकाल व अन्य मुद्दों पर गाने लिखे जो सबके बीच लोकप्रिय साबित हुए। अनेक छात्राओं ने घरेलू बंधन तोड़े। उन्होंने पर्दा प्रथा का विरोध किया व जन-मानस के संघर्षों में जुड़ने का जोखिम-भरा कदम लिया। 1941 में पटना में छात्रों के सम्मेलन में करीबन पचास हज़ार छात्राएँ शामिल थीं। आगामी वर्षों में देशभर की छात्राओं ने विदेशी हुकूमत, युद्ध व फ़ासीवाद का विरोध किया।

बंगाल में वामपंथी महिलाओं ने 'महिला आत्मरक्षा समिति' का गठन किया। इसके तहत अनेक मुद्दों पर सभाएँ, नुक्कड़ नाटक, गाने व जलूसों का आयोजन हुआ। 'महिला आत्मरक्षा समिति' देश की रक्षा, जनता की रक्षा, व महिलाओं की रक्षा-इन तीनों स्तरों पर जागरूक थी। उस समय विश्व-युद्ध के चलते भारत में खाद्यान्न की कमी होने लगी। 1943 में कलकत्ता में पाँच हज़ार महिलाएँ राज्य-सरकार तक खाद्य पूर्ति की अपनी मांग ले कर गईं। भूख से बिलखते बच्चे अपने साथ चिपटाए बंकुरा की चार सौ किसानिनें यही मांग

लिए ज़िला अध्यक्ष के दफ्तर तक जलसा निकालती हुई गईं। पबना में छः सौ महिलाएँ, मदारीपुर में दो हज़ार। पूरे बंगाल में अकाल पीड़ित जनता की आवाज गूँजने लगी। खाने के साथ कपड़े का भी संकट फैल रहा था। 'महिला आत्मरक्षा समिति' द्वारा अकाल राहत कार्य आयोजित किया गया। घर, कपड़ा, खाना व बीमारों की सेवा के लिए प्रबन्ध किये गये। आम जनता के बीच समर्पित कार्य करते हुए इस संगठन की सदस्यता बढ़ती गई और 1944 तक इसमें 43,500 सदस्याएँ थीं। इसमें शहरी व ग्रामीण सभी तबकों की महिलाएँ शामिल थीं।

1945 में किसान सभा के प्रोत्साहन तहत बंगाल के किसानों ने **'तैभागा आंदोलन'** छेड़ दिया। उनकी मुख्य मांग थी कि जब गरीब किसान ज़मीदारों के खेत जोतता है तो उसे दो-तिहाई हिस्सा मिलना चाहिए, न केवल आधा। किसानिनों ने इस आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ठाकुरगाँव की कॉमरेड दीपेश्वरी ने पुलिस पर लाठी-चार्ज करके उन्हें भगा दिया। कॉमरेड फूलेश्वरी ने अतवारी गाँव में इसी प्रकार किसान-किसानिनों की रक्षा की। इस तरह अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा करते हुए किसान वर्ग ने धान की रोपाई सम्पन्न की। कुछ अन्य विशेष मुद्दे भी उन्होंने उठाए : कॉमरेड सीतामणी बोलीं कि घर में आदमी पैसे फ़िज़ूल खर्च कर देते हैं जब की महिलाएँ रोटी-साग-कपड़े व बच्चों की देखभाल पर खर्च करती हैं: इसलिए पैसों पर प्रथम अधिकार महिलाओं का होना चाहिए। कुछ किसानिनों ने बताया कि उनके पति उनकी मार-पिटाई करते हैं। संगठनकर्ताओं ने इन मामलों की कड़ी निन्दा की, और बताया कि अधिकांशत: पैसे कैसे खर्च किये जाएँ यह निर्णय महिलाओं को लेना चाहिए। जैसे-जैसे तैभागा आंदोलन ने रंग जमाया वैसे-वैसे कई किसानिनें नेतृत्व के पद पर आईं-दीनाजपुर की कांठामौणि बर्मानी, बलिडंगी की जैमिनी और रोहिणी, सीतबगंज की भूतेश्वरी, हजांग समुदाय की राशमौणि, शंकरमौणि और रेवति, मिडनापुर की सत्यबाला बेहरा, शिवरानी मित्रा, बिमला माझी, सिंघुबाला धुँइया और ब्रजबाला दोलुई, व कई मुस्लिम किसानिन।

उस समय महिलाएँ अपने संगठनों द्वारा रोटी-कपड़े के प्रश्न राजनैतिक व सामाजिक प्रश्नों के साथ लगातार जोड़ रही थीं। खुलना में 1946 की एक महिला सभा में रहीमुनिस्सा खातून की अध्यक्षता में मछुआरिन समुदाय की रमणी विस्वास बोली-"हम महिला आत्मरक्षा समिति से कपड़े की मांग लेकर जुड़े। पर अब हम जान गए कि आज़ादी न मिली तो कपड़ा भी नहीं मिलेगा।"

केरल में 1942 में फ़ासीवाद का विरोध करती हुई महिलाओं का एक सम्मेलन हुआ जिसमें किसानिनें, श्रमिक महिलाएँ, गृहिणियाँ व मध्यम-वर्गीय महिलाएँ सभी शामिल थीं। देश के अन्य प्रांतों के मुकाबले केरल की महिलाएँ सामाजिक स्तर पर उच्च स्थिति पर थीं--शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति, पर्दा इत्यादि मामलों में। तब भी महिलाओं की स्थिति में सुधार की आवश्यकता थी। इझावा व नम्बूदिरी समुदायों में समाज सुधार की धारा विकसित हुई, जिसमें महिलाएँ शामिल थीं। नम्बूदिरी (उच्च-वर्गीय) महिलाओं को बहु-पत्नी प्रथा, पर्दा-प्रथा, पिछड़े हुए शिक्षा-स्तर इत्यादि झेलने पड़ते थे, जिसके खिलाफ़ 1940 दशक में उन्होंने अपनी आवाज़ उठाई। इसमें वामपंथी महिलाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। महिलाओं ने 'महिला संघम' द्वारा अपनी मांगें सामने रखीं। महिला संघम के नेतृत्व में थीं कॉमरेड लक्ष्मीकुट्टी, कॉमरेड थंकम्मा पिलै, कॉमरेड कामालक्ष्मी, इत्यादि। 1946 में ज़मीन व निजी अधिकारों की लड़ाई के साथ केरल की वामपंथी महिलाओं ने पुरुषों के साथ ट्रवन्कोर की राज्य-सत्ता के खिलाफ़ विशाल आंदोलन छेड़ा। यह था ऐतिहासिक 'पुन्नप्र-वलियर' संघर्ष, जिसमें श्रमिक जनता ने सफलतापूर्वक सशस्त्र सैनिक बल का सामना करके पिछड़ी सामंतवादी ताकतों को हरा डाला।

1945-47 में वर्ली आदिवासियों के बीच वामपंथी नेत्री गोदावरी पारुलेकर ने काम आरम्भ किया। महाराष्ट्र के थाणा ज़िले में आदिकाल से रहनेवाले ये आदिवासी गत वर्षों में अपनी ही ज़मीन पर अब नौकर बन गए थे। इनकी ज़मीन हड़पकर नये ज़मींदार इन्ही से बेगार कराते थे तथा महिलाओं का यौनिक शोषण करना अपना अधिकार समझते थे। पुलिस भी ज़मींदारों का साथ देती थी। इस शोषण व दमन के खिलाफ़ लड़ने के लिए गोदावरी पारुलेकर अपने पति एस. पारुलेकर के साथ इन्ही के बीच रहती थीं।

भारत की **श्रमिक महिलाओं के संघर्षों** में वामपंथियों व समाजवादियों ने साथ दिया। 1926 से प्रभावती नामक महिला ने श्रमिकों को संगठित करने का काम अपने हाथ लिया, और मज़दूरिनों को संगठित करने में विशेष सफलता हासिल की। टाट व कपड़ा मिल के मज़दूरों के बीच उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

1920 दशक में बम्बई में श्रमिकों के बीच कई महिलाओं ने काम आरम्भ किया। रेल कर्मचारियों की जुझारू नेता बनीं मणिबेन करे। मणिबेन करे समाजवादी थीं। कपड़ा मज़दूरों के हक की लड़ाइयों में शामिल हुईं उषा बाई डंगे व पार्वती भोरे--दोनो वामपंथी। 1928-29 के बम्बई कपड़ा मिल हड़ताल के जलूसों में सामने महिलाएँ चलती थीं। गेट पर

धरना भी महिलाएँ देती थीं। यदि हड़ताल तोड़ने वाले श्रमिक मिल में घुसना चाहते, तो ये महिलाएँ झाड़ू मारकर उन्हें ज़बर्दस्ती रोकती थीं!

अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' ने भी 1930 की अपनी राष्ट्रीय बैठक में 'श्रमिक प्रश्न' पर कई प्रस्ताव रखे। मुख्य थे महिला श्रमिकों के हक, विशेषकर गर्भावस्था व बच्चों की देखभाल से सम्बन्धित। खानों में महिला मज़दूरों की स्थिति पर भी गौर फ़र्माया गया।

1940 दशक में महिला श्रमिको ने कई संघर्षों में भाग लिया। 1946 में दक्षिण भारत रेलवे हड़ताल की समर्थकों को पुलिस द्वारा गिरफ़्तार किया गया व यातनाएँ सहनी पड़ीं। इसी वर्ष कोइम्बटूर कपड़ा मजदूरों की हड़ताल में महिला श्रमिकों ने आगे बढ़कर भाग लिया, और पुलिस की गोली तक सही। कलकत्ता व बम्बई की कपड़ा मिलों में हड़ताल हुए, जहाँ वामपंथी दल के नेतृत्व में महिला श्रमिक खूब लड़ीं। शोलापुर के कपड़ा मिलों के संघर्ष में मीनाक्षी सोने का नेतृत्व चमका। आगामी वर्षों में मीनाक्षी सोने ने महाराष्ट्र की बीड़ी मज़दूरिनों के बीच भी काम किया।



जग्गी देवी (1989 में)

राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के कई दशकों में महिलाएँ लड़ाई के हर स्तर पर शामिल हुईं। अधिकांशत: मध्यम-वर्गीय महिलाओं के ही नाम हमारे सामने आते हैं। परन्तु जैसा हमने देखा, श्रमिक व निम्न वर्ग की महिलाएँ भी भारी तादाद में आंदोलनों में शामिल हुईं। इन्हीं में से एक थीं जग्गी देवी, जो अवध के **किसान सभा** की नेत्री बनीं। जग्गी देवी पैदल साथियों के संग गाँव-गाँव गईं, और जगह-जगह ग्रामीण जनता को अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ लड़ने के लिए प्रेरित किया। किसान सभा के साथ-साथ अवध में 'किसानिन सभा' भी स्थापित की गई। इसमें खास किसानिनों के मुद्दे उठाये जाते थे- ज़मीदारों और तालुकदारों द्वारा यौनिक शोषण, 'कन्या विक्रय' यानी गरीबी में अपनी बेटियों को बेच देना, इत्यादि। अवध किसान आंदोलन ने 1920, 1930 और 1940 दशकों में ज़मीदारी प्रथा व साम्राज्यवाद के विरोध में लगातार संघर्ष किया।

दूर-दराज इलाकों की जुझारू महिलाओं में आता है नाम रानी गिडालू का। ये नागालैण्ड की बेटी थीं। 1932 में जब उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ़ मुक्ति-युद्ध छेड़ा तब वो केवल सत्रह वर्ष की थीं। उन्हें गिरफ़्तार किया गया और 1947 में देश की आज़ादी के बाद ही वो रिहा हुईं। उत्तर कछर पहाड़ों में ज़ेलियागुंग आदिवासियों के बीच उन्होंने अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ जंग छेड़ा था। विद्रोही नागाओं ने एक बड़ी क्रांति-सेना बनाई थी और दुश्मनों पर सशस्त्र प्रहार करने से नहीं चूकते थे। गुरिल्ला युद्ध में रानी गिडालू के पास चार हज़ार खूंख़्वार नागा अनुयायियों की स्वयंसेवी सेना थी। कई महीनों तक इन्होंने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये पर आखिर पकड़ी गईं और लम्बे वर्षों तक एकांत कैद में रहना पड़ा।

1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान हमारे समक्ष बहत्तर-वर्षीय मांतगिनी हाजरा का नाम ज़रूर आता है। मिदनापुर क्षेत्र की जनता को विदेशी हुकूमत के लगाए प्रतिबंधों व अत्याचारों के खिलाफ़ संघर्ष करने के लिए इन्होंने प्रेरित किया। विद्रोह तीव्र होता गया और सितम्बर 1942 में पाँच विशाल जुलूस पाँच दिशाओं से तामलुक की ओर निकल पड़े। मातंगिनी हाजरा वाले जुलूस पर लाठी-चार्ज हुआ, फिर गोलियाँ बरसाई गईं। चौथी गोली पर मातंगिनी वहीं गिर पड़ीं, परन्तु तिरंगा झंडा उनके हाथ में थमा रहा। एक फ़ौजी ने आगे बढ़कर लात मारकर झंडा मातंगिनी के मृत शरीर से अलग किया। मातंगिनी 1920 दशक से ही अपने क्षेत्र में राजनैतिक और सामाजिक काम करने लगी थीं। लोग उन्हें प्यार से 'बूढ़ी गाँधी' बुलाते थे। शहीदों में उनका नाम बहुत आदर से लिया जाता है।

1900-47 काल में महिलाओं का आंदोलन स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास के साथ गुंथा हुआ है। विश्लेषण करने पर स्पष्ट है कि महिलाएँ देश की स्थिति व बलिदान की आवश्यकता देखकर घर की चारदीवारी से निकलीं। कुछ गाँधी के आहवान पर निकल पड़ी। कुछ साम्यवादी व समाजवादी विचारधाराओं से प्रेरित हुईं। श्रमिक व दलित वर्गों की महिलाएँ व मध्यम-वर्गीय महिलाएँ सभी स्वतंत्रता-संग्राम में अपने-अपने तरीके से कूद पड़ीं। गौर करने लायक बात यह है कि देश की आज़ादी के साथ-साथ महिलाएँ अपनी आज़ादी के अन्य आयामों पर भी संगठित आवाज उठा पाईं। राजनीति में उतर आने का मतलब था पर्दा-प्रथा व अनेक रूढ़ियों का जमकर सामना करना। साथ में महिलाओं ने शिक्षा, महिला मतधिकार और विधवा पुनर्विवाह के लिए संग्राम छेड़ा। बहु-विवाह व बाल-विवाह प्रथाओं का विरोध किया। यौनिक उत्पीड़न, पति द्वारा मार-पिटाई इत्यादि मुद्दों पर भी अपने विचार रखे व अभियान छेड़े। अतः इस काल के दौरान औरतों ने अपने निजी

अधिकारों को हासिल करने के लिए कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाए और सफलताएँ भी हासिल की।

पुरुष-वर्ग ने स्वतंत्रता-संग्राम में महिलाओं की भागेदारी की प्रशंसा की। परन्तु सामाजिक बदलाव कहाँ तक और किन दिशाओं में होना चाहिए इस पर काफ़ी मतभेद था। उन्नीसवीं सदी के अंत व बीसवीं सदी के आरम्भ में इस विषय पर राजनीतिक नेताओं में काफ़ी तर्क-वितर्क हुआ था। जैसे-जैसे बीसवीं सदी के दशक गुज़रते गए, वैसे-वैसे महिला-मुक्ति की आवाज़ ने ताकत पकड़ी। चूँकि इस समय महिलाएँ जमकर स्वतंत्रता-संग्राम में भी भाग ले रही थीं इसलिए उनकी अन्य मांगों को भी अधिक सम्मान और समर्थन मिलने लगा।

जैसा हमने देखा, राजनीति में महिलाओं की भागेदारी बढ़ती और गहराती गई। 1905-1918 के बंग-भंग तथा बहिष्कार आंदोलनों से लेकर 1919-41 के अनेक असहयोग आंदोलनों तक, और 1942-48 के विद्रोहात्मक आंदोलनों में भी, महिलाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। जब की बंग-भंग 'होमरूल' आंदोलनों में कुछ प्रमुख महिलाएँ रहीं, गाँधी-युग के आरम्भ से बड़ी तादाद में महिलाएँ आंदोलनों से जुड़ गईं। 1920-22 के खिलाफ़त आंदोलन में हज़ारों की संख्या में महिलाएँ सामने आईं। खादी, चर्खा और स्वदेशी-प्रचार में लाखों जुट गईं। धरनों और जलूसों को आयोजित करने लगीं, सभाओं में बोलकर जन-जन को प्रेरित करने लगीं। 1920 दशक में 'आखिल भारतीय महिला सम्मेलन' भी उद्घाटित हुआ। इसी दशक में साम्यवादी, श्रमिक व आतंकवादी गुटों में भी महिलाओं ने अपनी खास जगह बनाई। 1930 दशक में प्रत्येक धारा की गतिविधियों में महिलाओं की भागेदारी बनी रही। 1930-31 के नमक आंदोलन में महिलाओं का नेतृत्व व भागेदारी अभूतपूर्व थे। इस आंदोलन के दौरान कुल लगभग सत्रह हज़ार महिलाओं को जेल-यात्रा करनी पड़ी। हज़ारों निरक्षर महिलाएँ शामिल थीं। इसी काल में महिलाओं को लामबंद करने के लिए कई महिला संस्थाएँ गठित हुईं- 'देश सेविका संघ', 'नारी सत्याग्रह समिति', महिला राष्ट्रीय संघ', 'स्त्री स्वराज्य संघ' इत्यादि। 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में क्रूर दमन के बावजूद देशभर में महिलाओं की व्यापक भागेदारी रही। 1946 के नौसेना-विद्रोह में भी महिलाओं के अविस्मरणीय योगदान की गाथा दोहराई गई। महिलाओं के विभिन्न रूप सामने आए -शांतिपूर्वक सत्याग्रही, खूंख़्वार आतंकवादी, श्रमिकों की संगठनकत्री तो कभी अपने प्यारे देशवासियों और अन्य संग्रामियों की 'दीदी', 'अम्मा' या 'भाभी'।

इस काल में महिलाएँ पुरुषों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर चलीं। पुरुषों में नेता थे, तो महिलाओं के बीच भी नेत्रियों की कमी नहीं थी। देश-प्रेम व आज़ादी की ज्वाला महिला-पुरुष सभी के दिलों में भड़क रही थी। चूँकि महिलाएँ भी सबकी नज़र में देश के मंच पर सबके लिए कार्य कर रही थीं, इसलिए **'अपनी' आज़ादी की मांगें** भी उचित समझी गई। समाज और राजनीति के बीच का विभाजन कृत्रिम लगने लगा। अगर महिलाएँ देश के लिए अपने प्राण तक देने को तैयार हैं, तब कैसे मान लिया जाए कि ये तो कुदरत से ही पिछड़ी हुई हैं? जब चारदीवारी से बाहर निकलकर देश के लिए ये विभिन्न काम कर सकती हैं, तब कैसे सहा जाए इन्हीं का यौनिक शोषण, निरक्षरता, ठूस-ठूसकर भरी गई लाचारी और हीन-भावना? अत: स्वतंत्रता-संग्राम के इस काल में महिला-आंदोलन व देश की आज़ादी के लिए आंदोलन के बीच अंर्तविरोध नहीं, बल्कि सामंजस्य पाया गया।

1900-47 में महिलाओं ने आत्म-बल व आत्म-भरोसे के साथ अपनी सोच व मांगें व्यक्त कीं। विदेशी हुकूमत को गिराने में भारतीय महिलाओं का हाथ रहा ही। ज़मींदारी प्रथा व सड़ी-गली सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ़ भी जगह-जगह पर महिलाएँ संगठित हुईं। अपनी शिक्षा, मताधिकार व विवाह और सम्पत्ति-सम्बन्धित अधिकारों पर संघर्षरत रहीं।

सदियों से चली आ रही रूढ़ियाँ व पितृसत्ता एक दिन में तो टूटेंगे नहीं। परन्तु इस सत्ता पर महिलाओं ने प्रश्न-चिन्ह तो लगाने शुरू किए। स्वयं अपने को संगठित करके महिला-वर्ग ने आगे की पीढ़ियों के लिए मिसाल कायम किया। 1930 और 1940 दशकों में 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' ने कई स्तरों पर भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया। श्रमिक और कामकाजी महिलाओं के मुद्दे उठाए, शिक्षा के लिए जुटकर काम किया, साधारण गृहिणी और माँ की समस्याओं पर गौर किया।

1928-29 में बाल-विवाह पर प्रतिबंध लगाने के लिए 'शारदा बिल' पर विवाद हुआ तब महिलाएँ बिल के पक्ष में थीं। परन्तु 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की कई सदस्याओं ने इस पर खुलकर विरोध करने से इन्कार किया। सवाल उठे रणनीति के: कौन से तरीके अपनाये जाने चाहिएँ? धार्मिक कट्टरता के माहौल में खुलकर धर्म-मार्तण्डों का विरोध करना क्या उचित रहेगा? सम्मेलन की अन्य महिलाओं को खुलकर विरोध करना उचित लगा। उनका तर्क था कि महिलाओं से सम्बन्धित हर मुद्दा निर्भीकता से उठाना चाहिए।

महिला-सम्बंधित सभी मुद्दों को निडर होकर उठाया जाये-यह मत था कमलादेवी

चट्टोपाध्याय, रामेश्वरी नेहरू व माया दास जैसी सभी हुई कार्यकत्रियों का। परन्तु सरला देवी चौधरानी व लक्ष्मी कुट्टी ने इस प्रस्ताव पर आपत्ति ज़ाहिर की, और लेखिका अनुरूपा देवी ने समझाया-''शिक्षा का बैनर लेकर हम हर घर में दाखिल हो सकते हैं। परन्तु राजनीति और सामाजिक सुधार से सम्बंध रखनेवालियों को शक की नज़र से देखा जाता है।''

इस विवाद को एक समझौते द्वारा निपटाने का प्रयास हुआ। सम्मेलन ने महिला-सम्बंधित हर मुद्दा उठाने की आवश्यकता स्वीकारी, और अपना नाम बढ़ाकर 'शिक्षा और समाज-सुधार के लिए अखिल-भारतीय महिला सम्मेलन' रख लिया। परन्तु इसके साथ-साथ राजनीति से जुड़ना न-मंज़ूर किया और अपनी सदस्याओं के राजनीतिक कार्यों पर रोक लगा दी। परन्तु महिला संगठन की सदस्याओं पर राजनीति से जुड़ने की यह रोक टिक नहीं पाई। 1930-40 दशकों में महिलाओं ने समाज व राजनीति का अभिन्न जुड़ाव अपने साहसी कार्यों व विचारों द्वारा स्थापित कर दिया था। तीन साल में ही 'महिला सम्मेलन' ने महिलाओं की राजनीतिक भागेदारी पर लगाया गया अपना रोक हटा लिया। घटनाओं व गतिविधियों की चपेट में आकर महिलाओं पर ऐसे प्रतिबंध टिक नहीं पाए। महिलाओं की राजनीतिक भागेदारी को व्यापक तौर पर मान्यता मिल चुकी थी।

1940 दशक में देश की आज़ादी करीब आती हुए दिखने लगी। भारतीय महिला आंदोलन लम्बे बरसों तक इसी आज़ादी की लड़ाई के बीच जी रहा था। यहाँ तक की जब देश की आज़ादी आई तब कुछ-कुछ ऐसा लगा जैसे महिला-मुक्ति भी असलियत बन चली है। प्रतीत हुआ कि आज़ाद भारत में महिला-पुरुष समानता आसानी से हासिल हो जाएगी। सभी महिलाओं व सभी पुरुषों को आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त होंगे।

आशा की यह लौ लिए भारत की लाखों-करोड़ों महिलाओं ने भारत की आज़ादी का स्वागत किया। देश की आज़ादी के साथ-साथ प्रत्येक नागरिक की आज़ादी भी सुरक्षित रहेगी- यह विश्वास था उन्हें।

परन्तु यहीं तो भारतीय महिला आंदोलन का अंत न था!

चौथा अध्याय

1947 -2000 : समकालीन आंदोलन की रूपरेखा

1947-1970 - उतार-चढ़ाव, ठहराव और नया जोश :

स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं ने अनेक स्तरों पर भागीदारी निभाई थी। 1947 में अंग्रेज़ी सरकार से देश मुक्त हुआ। सत्ता हस्तांरण के साथ-साथ अनेक स्वतंत्रता-संग्रामी राजनीति की दुनिया से अलग हटने लगे। कई महिला समूह,जो कई दशक तक भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व करते आए थे, राजनीति का क्षेत्र छोड़कर समाज-सुधार में अधिक समय देने लगे। अतः कुल मिलाकर 1947 के बाद के दो दशक महिला आंदोलन के लिए ठहराव का समय रहा।

किन्तु इन दो दशकों में भी महिलाओं ने कई उल्लेखनीय कदम उठाए। देश के **विभाजन व सम्प्रदायिक दंगों** के साथ, कत्ल लूटमार व बलात्कार के हादसों का दौर चला। कई महिलाओं ने इस काल में शरणार्थियों के लिए व्यवस्थाएँ जुटाई, व साम्प्रदायिक सद्भावना फैलाने के प्रयास किये।

दूसरी ओर दक्षिण भारत के **तेलंगाना** क्षेत्र में वामपंथी दलों ने सम्पूर्ण आर्थिक-सामाजिक आज़ादी के लिए क्रांति की आग भड़काई। दलित-मज़दूर वर्ग की संगठित शक्ति निज़ाम, जमींदार और साहूकारों के विरुद्ध खड़ी हुई। 1948 में भारतीय सरकार ने तेलंगाना में सेना भेज दी। तेलंगाना के जुझारू साथियों में शामिल थीं कॉमरेड स्वराज्यम, अख्ल्ला कमला देवी, सरोजिनी, चकाली ऐलम्मा इत्यादि। हज़ारों साधारण महिलाओं ने जमकर सशस्त्र सैन्य बल का सामना किया। तेलंगाना संघर्ष के अन्य विख्यात नाम हैं पद्मा देशपाण्डे, एन. सत्यवती, प्रमिला महेन्द्रा और जमालुनिस्सा बेगम। 'आंध्र महिला सभा', 'आंध्र युवती मण्डल' व 'महिला संघम' के तहत महिला शक्ति ने यह लड़ाई लड़ी। सरकार, शासन

व ज़मींदारों के खिलाफ़ बिगुल बजाया और साथ में अन्य मुद्दों पर भी गौर किया समता, घरेलू हिंसा, बाल विवाह, बहु-पत्नी प्रथा इत्यादि।

जुझारू साथियों में एक थीं पलाकूर्टी गांव की चकाली ऐलम्मा। वे धोबिन थीं और संघम की समर्पित कार्यकर्ता। ज़मीदार की आंख चकाली की ज़मीन पर पड़ी और उसे हथियाने के लिए उसने अपने गुण्डे भेजे। फ़सल की कटाई के बाद फ़सल लूटने के लिए गुण्डे मौजूद थे। परन्तु चकाली ने ऐसा न होने दिया। उसने संघम के अन्य साथियों को बुलाया और गुण्डों का सामना किया। इसी तरह हज़ारों अन्य साधारण दलित-मज़दूर महिलाओं ने जमकर सशस्त्र सैन्य बल का सामना किया।

छोटी उम्र में ही कॉमरेड स्वराज्यम 'आंध्र महासभा' की सदस्या बन गई। गुंडाला के कोया जनजाति को इन्ही ने लामबंद किया। तेलंगाना संघर्ष के शुरुआत से ही भूमिहीन खेतीहर मज़दूरों को इन्होंने संगठित किया। इसी तरह अरुत्ला कमला देवी ने जागीरदारी प्रथा के विरुद्ध मज़दूरों को लामबंद किया। 1949 में उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। गोदावरी जंगल क्षेत्र में महिलाओं ने गुरीला दस्तों में भी भाग लिया।

रज़ाकारों और जागीरदारों के खिलाफ़ संघर्ष में धूलपेट की सरोजिनी ने खास भूमिका निभाई। सरोजिनी 'महिला नवजीवन मण्डल' की सक्रिय सदस्या थीं। इसके तहत उन्होंने आवश्यक खाद्यानों की सही वितरण प्रणाली के लिए संघर्ष छेड़ा। अन्य मुद्दों पर भी सक्रिय बनी रहीं।

एन. सत्यवती 'आंध्र महिला सभा' और 'आंध्र युवती मण्डल' की सदस्या थीं। जब अखनूर और मच्छीरेडीपल्ली में महिलाओं पर हमले हुए तब एन. सत्यवती ने महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया। इसी तरह यशोदाबेन ने पुलिस व सेना की ज़्यादतियों का विरोध किया। 'महिला नवजीवन मण्डल' का नेतृत्व किया। अन्य कार्यों के साथ दूध व खाद्यान्न उचित दरों पर वितरित हो, इसके लिए योजनाएं बनाई और प्रस्तुत कीं। प्रमिला महेन्द्रा ने भी क्रांतिकारियों का समर्थन किया और दूसरी ओर सस्ते दाम पर खाद्यान और दूध के लिए अपनी आवाज़ उठाई।

तेलंगाना आंदोलन में एक निराली आवाज़ थी 'बाजी' जमालुनिस्सा बेगम की। कई वर्षो से वे राष्ट्रवादी थीं और देश के विभाजन के खिलाफ़। तेलंगाना आंदोलन के समय वे अधिक सक्रिय हुई। 1946 से 1950 तक उनके घर में क्रांतिकारी नेता और संघम सदस्य छिपते थे।

1949 में पुलिस ने उनके घर पर छापा डाला, उनके भाइयों और बहनों को गिरफ़्तार कर लिया। अतः जमालुनिस्सा बेगम ने क्रांतिकारी कार्यो के लिए भारी खतरे मोल लिए।

तेलंगाना आंदोलन में 'महिला संघम' की कुल सदस्यता चालीस हज़ार से ऊपर थी। कुल मिलाकर तेलगांना आंदोलन में महिलाओं की भूमिका उल्लेखनीय थी।

तेलंगाना की साधारण जनता के ज़ोरदार संघर्ष के बावजूद, 1951 तक यह आंदोलन कुचल दिया गया। राज्य-बल द्वारा गिरफ्तारियाँ, लूटमार, बलात्कार व हमलों का तीखा दौर चला।

1950 दशक में गांधीवादी पक्ष की ओर से **भूदान आंदोलन** छेड़ा गया। उद्देश्य था ज़मींदारों द्वारा ज़मीन का दान व उचित वितरण। शांति व अहिंसा द्वारा 'क्रांति' लाने का ये विस्तृत प्रयास था। उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश व अन्य प्रांतों में भूदान का काम चला। इसमें गांधीवादी महिलाओं ने अहम् भूमिका निभाई। उदाहरणतः उत्तर प्रदेश स्थित 'कस्तूरबा महिला उत्थान मण्डल, कुमाऊँ' के सभी सदस्य भूदान आंदोलन के लिए समर्पित थे। संचालिका सरला बहन से लेकर अध्यापिकाओं और छात्राओं तक सभी पहाड़ी इलाकों में पदयात्रा पर निकल पड़े। गाँव-गाँव घूमकर अपने जैसी ग्रामीण बहनों व भाइयों के समक्ष वे भूदान के संदेश रखतीं। देश में जगह-जगह पर ऐसे प्रयास हुए। ज़मींदारों ने ज़मीन का दान भी किया, और भूमिहीनों में यह बाँटी भी गई। परन्तु आंदोलन को कुल मिलाकर सीमित सफलता ही मिल पाई। धीरे-धीरे आंदोलन की गति धीमी पड़ गई और उत्साह ठंडा हो गया।

1947 के बाद कुछ **सरकारी कार्यक्रम** खास महिलाओं के कल्याण के लिए बनाए गए। 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' ('कम्यूनिटी डिवेलेपमेंट प्रोग्राम') व अन्य महत्त्वाकांक्षी योजनाएँ बनीं। स्वराज्य में गरीबी उन्मूलन व महिलाओं के आर्थिक हालात सुधारने के उद्देश्य से ये योजनाएँ तैयार की गईं। देशभर में महिलाओं को आशा थी कि स्वशासन के चलते अब उनकी बुनियादी स्थिति में उचित परिवर्तन आएँगे। सम्पूर्ण जन मानस को आर्थिक व सामाजिक पुनर्जीवन की कल्पना थी। परन्तु सरकारी सोच में कुछ मूलभूत कमियाँ रह गईं, जिनके कारण महिलाओं की असलियत जहाँ की तहाँ ही रह गई। ठोस ज़रूरतों व ज़मीन की वास्तविकताओं को बार-बार नज़रंदाज़ कर दिया गया।

'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' के तहत सरकार ने महिलाओं की मूलभूत आवश्यकताओं

को समझा तक नहीं। गरीब ग्रामीण औरत को ज़रूरत है ज़मीन, व खेती करने के साधनों की। घर बार चाहिए, रोटी और कपड़ा चाहिए। बच्चों को पालने के लिए सही साधन चाहिएँ। शिक्षा और नौकरी व आमदनी चाहिए। परन्तु सरकार की परिभाषा के अनुसार ग्रामीण महिला की आवश्यकता है केवल घरेलू कार्यों को निखारना व कमाई के लिए न्यूनतम साधन विकसित करना। महिलाओं की स्थिति को गम्भीरता से समझने के बजाय सरकार उन्हें वर्तमान ढाँचे में ही धकेल रही थी। पापड़-बड़ी बनाना, सिलाई-कढ़ाई व पकवान बनाना, तथा बालवाड़ी योजना तक ही महिला कार्यक्रमों की पहुँच थी। सरकार को उम्मीद थी कि इन कार्यक्रमों द्वारा ग्रामीण महिलाओं की स्थिति में मूल परिवर्तन आ जाएगा। परन्तु इन छुटपुट प्रयासों द्वारा यह कतई सम्भव न था।

सरकार की ओर से एक उल्लेखनीय कदम था कानून में उचित परिवर्तन लाना। **'हिन्दू कोड बिल'** पर देशभर में कई वर्षों तक चर्चा चली। यह कानून पारित हाने से हिन्दू समाज में बहु-पत्नी प्रथा पर प्रतिबंध लग गया। विवाह की न्यूनतम उम्र बढ़ा दी गई। जिससे बाल-विवाह गैर-कानूनी करार दिया गया। 1961 में दहेज-सम्बंधित कानून द्वारा दहेज का देना व दहेज का लेना अपराध घोषित कर दिये गए।

पुरानी महिला संस्थाएँ-'नेशनल फ़ेडरेशन फ़ौर इण्डियन विमिन' व 'ऑल इण्डिया विमिन्स कॉन्फ्रंस' इत्यादि समाज-कल्याण में हस्तक्षेप करती रहीं। राजनैतिक स्तर पर संघर्ष करने की खास आवश्यकता उन्हें नहीं दिख रही थी। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व ज़रूर किया था। परन्तु 1947 के बाद उन्होंने यह भूमिका त्याग दी-- सोचकर कि अब सरकार तो अपनी ही है। ए.आई.डब्ल्यू.सी. ने खासतौर पर अपने को समाज-सेवी संस्था के रूप में ही ढाल लिया। जुझारूपन त्यागकर समाज-सेविकाओं के वस्त्र धारण कर लिए। अतः राजनीति में महिलाओं की संगठित शक्ति व सम्मिलित आवाज बहुत ही धीमी पड़ गई। हालाँकि इन संस्थाओं की शाखाएँ-प्रशाखाएँ ग्रामीण व शहरी इलाकों में फैलती गई थीं।

देखते देखते आज़ादी के बाद के दशकों में महिलाओं की स्थिति सुधरने के बजाय गिरने लगी थी। अहसास होने लगा कि सरकार आम इन्सान के सपनों को साकार नहीं कर पा रही है। गरीब दलित मज़दूर महिलाओं की स्थिति में यदि कोई परिवर्तन हुआ तो केवल यह कि उनकी गरीबी व बेहाली और बढ़ गई।

महिलाओं की स्थिति में विघटन **सर्वव्यापी संकट** का एक पहलु था। योजना बद्ध आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया असफल साबित होने लगी थी। पाँच-वर्षीय योजनाओं के तहत श्रम-आधारित विकास के बजाय पूँजी-आधारित विकास पर ज़ोर दिया गया। परिणामस्वरूप बेराज़गारी और गरीबी दिनो-दिन बढ़ते गए। दलित व पिछड़ी जातियों व आदिवासियों की स्थिती बिगड़ती गई। जो भूमिहीन थे उन्हें भूमि न मिली। जिनके पास थोड़ी भूमि थी वो भी जाती रही। लाखों की संख्या में बड़े बांध, बिजली परियोजनाओं व भारी उद्योगों के कारण दूर-दराज के ग्रामीण लोगों को विस्थापित होना पड़ा। सदियों से अपनी धरती से रिश्ता बनाए आदिवासी अपना सर्वस्व खोकर देश की मण्डियों में अपना श्रम बेचने को मजबूर हो गए। 1960 दशक के मध्य तक स्पष्ट होने लगा कि देश में विकास का असली स्वरूप क्या बनता जा रहा है।

देश के कोने-कोने से जनता के **विद्रोह की आवाज़** उठी। इसी लहर में शामिल थी महिलाओं की उग्र होती हुई आवाज़।

गहराते संकटों और बढ़ते असंतोष के परिणामस्वरूप महिला आंदोलन में एक बार फिर राजनीति से जुड़ने का उत्साह जगा। समाज सेवा के क्षेत्र में कई महिलाएं व महिला संस्थाएँ सक्रिय थीं ही। परन्तु अपने मामलों को अधिक सशक्त आवाज़ से उठाने की आवश्यकता उन्हें मालूम पड़ने लगी। सरकारी योजनाओं व नीतियों के तहत भारतीय नारी की स्थिति में कोई खास सुधार नहीं आ पाया था। हाँ, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान महिलाओं ने अपने संगठन व संघर्षों द्वारा कुछ उपलब्धियां हासिल की थीं, जैसे शिक्षा का अधिकार, चुनावों में मतदाता होने का हक, व अनेक कानूनी अधिकार। परन्तु दूसरी ओर देश में अधिकांश महिलाओं की ज़िंदगी की असलियत थी अत्यंत गरीबी, बेरोज़गारी, सामाजिक व घरेलू हिंसा, कुपोषण व रोगग्रस्तता।

देश भर में महिलाएँ नए सिरे से संगठित होती दिखाई पड़ीं। विरोध की ज्वाला अंतराल में धीमी पड़ चुकी थी, किन्तु बुझी नहीं। जैसे-जैसे देश में गहराते संकट प्रकट हुए, जगह-जगह पर महिलाओं ने अपनी बातें नए सिरे से उठाना शुरू किया।

1960 दशक के अंतिम वर्ष में भारत के किसान आंदोलन ने नया मोड़ लिया। बंगाल में 'नक्सलवादी' आंदोलन भड़क उठा। सामंतवादी बड़े जमींदारों को घेरकर जान से मारना, व भूमि का सही वितरण करना यह था नक्सलवादियों का लक्ष्य। हालांकि इस सशस्त्र

क्रांति के प्रयास के साथ महिलाएँ भी जुड़ीं, अधिकांशतः नेतृत्व पुरूषों के हाथों में था। महिलाएँ अपनी जान जोखिम में डालकर क्रांतिकारियों को शरण देतीं या एक जगह से दूसरी तक संदेश पहुँचातीं। जैसे 'हज़ार चौरासी की माँ' नामक पुस्तक में महाश्वेता देवी ने दर्शाया है, क्रांतिकारियों के परिवारों की महिलाओं ने अनेक कुरबानियाँ दीं, व असीम दुःख झेले।

किसान, मज़दूर, दलित व मध्यम वर्ग सभी तबकों की महिलाओं के बीच से असंतोष की जो लहर उठी उसे अलग-अलग तरीकों से मोड़ा गया। विभिन्न स्वरूप व आकार मिले, परन्तु महिला आंदोलन ने अनेक समस्याओं व संघर्षों के साथ अंतरंग रिश्ता बनाए रखा। वस्तुतः अनेक तबकों की महिलाओं के मुद्दे व प्राथमिकताएँ अलग-अलग होने के नाते वे अपनी-अपनी धाराएँ व रास्ते बनाने लगे। इन धाराओं में आपसी मतभेद की सम्भावना भी बनी रही। इन सभी धाराओं का समन्वय भी कई स्तरों पर हुआ। एक प्रश्न सभी ओर से उठने लगा-- 'यह विकास कैसा विकास है, किसका विकास है?' इसी प्रश्न के साथ गुंथा हुआ है भारतीय महिला आंदोलन का समकालीन इतिहास।

1970 दशक के आरम्भिक वर्षों में महिला आंदोलन एक बार फिर नए तरह से रंग जमाने लगा। पहाड़ी व मैदानी इलाकों में, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम व ग्रामीण-शहरी सभी तरह के इलाकों में महिला आंदोलन के बीज फूटने लगे।

1970-2000 - अनोखे पहल, नई दिशाएँ

1970 दशक में अनेक महिला संगठनों का गठन हुआ, विभिन्न गतिविधियाँ हुईं। महिलाओं ने तरह-तरह के मुद्दे उठाये--कुछ पुराने, कुछ नए। अपनी तरह से उठाए। अनोखा रंग-रूप लेकर यह आंदोलन जगह-जगह पर उभरने लगा। कई जगह कई वीरांगनाओं ने नए खेल खेले। ये वीरांगनाएँ किसी खास वर्ग-विशेष की नहीं बल्कि अनेक तबकों से थीं। आइये, कुछ साधारण महिलाओं के असाधारण संघर्षों की गाथाएँ सुनें और समझें।

औरत और पर्यावरण

चिपको आंदोलन : उत्तराखण्ड (जो 2000 से 'उत्तरांचल' नाम का नया राज्य बन गया है) की महिलाओं ने 1970 दशक के दौरान अनोखा आंदोलन रचा, जिसका प्रभाव दुनियाभर में फैला। इस आंदोलन द्वारा सरल ग्रामीण महिलाओं ने दुनिया का ध्यान कुछ मौलिक प्रश्नों

की ओर खींचा।

उत्तराखण्ड के पहाड़ी इलाकों की महिलाओं ने अपने जंगलों के संरक्षण के लिए जान की बाज़ी लगा दी। रेणी गाँव में गौरा देवी नामक वृद्धा ने सबसे पहले यह अभियान छेड़ा। उनके गाँव से सटे जंगल में कटाई करने के वास्ते कुछ आदमी कुल्हाड़ियाँ लेकर आ पहुँचे। ये आदमी किसी निजी ठेकेदार के मज़दूर थे। खबर पहुँचते ही गाँव की सभी महिलाएँ उस स्थान पर पहुँच गईं। ठेकेदार के आदमियों से आग्रह किया कि वे पेड़ न काटें। समझाया कि इन वृक्षों पर गाँवों का जन-जीवन निर्भर है। परन्तु ठेकेदार के आदमी टस से मस न हुए। तब गौरा देवी के नेतृत्व में ये कर्मठ व समर्पित महिलाएँ पेड़ों के तनों से 'चिपक' गईं। पेड़ों को आलिंगन में भरकर महिलाएँ बोलीं, "जंगल हमारी माँ हैं। पहले हमें काटो, फिर पेड़ों को।" हारकर, ठेकेदार के आदमियों ने अपने कुल्हाड़े नीचे धरे, और गाँव व जंगल को छोड़कर तभी चले गए। 'दशोली ग्राम स्वराज्य संघ' नामक स्थायी गांधीवादी संस्था में चंदी प्रसाद भट्ट इत्यादि ने महिला-शक्ति के साथ जुड़कर अपना योगदान भी दिया।

इस अभियान की खबर पहाड़ी इलाकों में आग की तरह फैल गई। जगह-जगह पर महिलाओं ने इसी तरह के कदम उठाए। सरकार ने समिति गठित की। तब तय हुआ कि उच्च पहाड़ी इलाकों में पेड़ों की कटाई पर कड़े प्रतिबंध लगाना अति आवश्यक है।

इस तरह देश की महिलाओं ने **पर्यावरण संरक्षण आंदोलनों** की नींव डाली। महिलाओं ने अपने जंगलों की ही नहीं, बल्कि ज़मीन की भी रक्षा की। पहाड़ी इलाकों में जगह-जगह पर पत्थरों के खान खुद रहे थे। महिलाओं ने जमकर सामना किया। कौसानी स्थित 'लक्ष्मी आश्रम' की महिलाओं ने खीराकोट व अन्य गाँवों के वासियों को संगठित करके खीराकोट की पत्थर खान को बंद करवाया। यही नहीं, उजाड़ ज़मीन को भरने के लिए श्रमदान दिवस आयोजित किए। सैकड़ों की संख्या में गाँववालों ने श्रमदान किया। कुछ ही वर्षों में वो भूमि फिर से हरी-भरी व निराली दिखने लगी।

ऐसे अभियानों से प्रेरित होकर देश के अन्य इलाकों में भी पर्यावरण-संरक्षण अभियान छिड़ने लगे। उल्लेखनीय है कर्नाटका का 'अपिक्को' आंदोलन। इन आंदोलनों द्वारा महिलाओं ने अपने सामुदायिक व पारिवारिक जीवन की रक्षा की। इन 'अनपढ़' महिलाओं के रग-रग में पर्यावरण का ज्ञान स्वत: ही प्रवाहित है। बचपन से ही अपनी माँ और नानी से उन्हें यह धरोहर प्राप्त होती है। वे जानती हैं कि जंगल कटने से इन्सान का पर्यावरण व

अर्थ व्यवस्था सभी गड़बड़ा जाएँगे। गहरी सोच व समझ से ही इस तरह के अनेक नारे उत्पन्न हुए "क्या हैं जंगल के उपकार? मिट्टी पानी और बयार!" उन्हें भली-भाँति मालमू है कि जंगल के साथ पूरा पर्यावरण जुड़ा हुआ है, और पर्यावरण के साथ इन्सान का अस्तित्व।

बड़े बांधे के विरोध में कई संघर्ष चल रहे हैं। 1970 दशक से ही यह एक गम्भीर मुद्दे के रूप में उभरकर आया। बड़ें बांध 'विकास' के नाम पर लाखों लोगों को विस्थापित करते हैं, और साथ में पर्यावरण का विनाश। टीहरी गढ़वाल इलाके में सुन्दरलाल बहुगुणा, विमला बहुगुणा, धूमसिंह नेगी, साहब सिंह, सुदेशा बहन इत्यादि ने 'चिपको' के तहत अपने वनों की रक्षा की थी, और इसी के साथ-साथ टीहरी बांध परियोजना की खिलाफ़त। 1980 दशक में बिहार के सिंहभूम क्षेत्र में कोयल-कारो नदियों पर बांध-परियोजनाओं के विनाशकारी रुख को पहचानकर इलाके की आदिवासी जनता ने विरोध का बिगुल बजाया। दूसरी तरफ़ नर्मदा नदी की घाटी से सरदार सरोवर बांध परियोजना के खिलाफ़ बड़ी-भारी आवाज़ उठने लगी।

1990 दशक में ये आवाजें गूँजती ही सुनाई दे रही हैं। बांध पर काम कुछ दिनों तक स्थगित रहता है, परन्तु फिर चालू हो जाता है। इन पर्यावरणीय आंदोलनों के साथ भारी तादाद में इलाकों की महिलाएँ जुड़ी हैं, और साथ में पुरुष और बच्चे भी। 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' के नेतृत्व में हैं एक समाज-सेविका, मेधा पाटकर। मेधा पाटकर ने शहर की चकाचौंध से दूर नर्मदा घाटी के दूर-दराज गाँवों में अपना जीवन बना लिया है। नर्मदा घाटी के संरक्षण के लिए प्रतिबद्ध चित्तरूपा पलित जैसी महिलाएँ भी इस आंदोलन में शामिल हैं। साधारण ग्रामीण महिलाओं के साथ अंतरंग रिश्ते बनाकर देश की महिला आंदोलन की जड़े यहाँ मज़बूत होती दिख रही हैं। वो जड़ें जो आम महिलाएँ अपने आँसुओ व पसीने की बूँदों से सींच रही हैं....!

औरत और रोज़मर्रा की जिंदगी

1970 दशक से ही एक और महिला मुद्दा उभरने लगा, जो अगले तीन दशकों में ज़ोर पकड़ता गया है। ये है **शराबबंदी** का मुद्दा। देशभर में महिलाओं ने पारिवारिक जीवन के संरक्षण के लिए यह आंदोलन छेड़ा। हरियाणा और उत्तरप्रदेश से लेकर तमिलनाडू और आंध्रप्रदेश तक शराबबंदी के लिए महिलाओं ने कसकर अभियान छेड़े हैं। उत्तराखण्ड की

महिलाएँ गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित रहीं। 1990 दशक में आंध्रप्रदेश की महिलाएँ साक्षरता अभियान द्वारा अपने मुद्दों के बारे में अधिक जागरूक होने लगीं। हरियाणा में 1980 दशक के दौरान ग्रामीण महिलाओं को एहसास हुआ कि शराब ठेकों के चलते गाँव में छोटे-छोटे बालक भी पियक्कड़ बनने लगे हैं। तमिलनाडू व अन्य इलाकों में महिला कार्यकर्ताओं ने पाया है कि पियक्कड़ बने आदमी बीवियों पर रोज़ मार-पीट व हिंसा के साथ पेश आ रहे हैं।

हरियाणा, उत्तरप्रदेश व आंध्रा में अनेकों बार महिलाओं ने एकजुट होकर सरकारी दारू की दुकानों पर धरने दिये हैं। इनके चलते कई बार इन राज्यों में शराबबंदी कानून पारित हुए हैं। परन्तु हर बार सरकार अपने ही बनाए कानूनों का उल्लंघन कर लेती है। और फिर वो कानून वापस ले लेती है। अतः फिर से शराब की दुकानें जगह-जगह पर खुले-आम शराब बेचने लगती हैं।

महिलाएँ शराबबंदी के विरुद्ध इसलिए हैं क्योंकि उनका तजुरबा है कि बहुत सारे मर्द अपनी सारी कमाई इसी पर लुटा देते हैं, और स्वयं गैर-ज़िम्मेदार हो जाते हैं। बच्चों का पालना व घर चलाना - यह सारा बोझ महिलाओं के कंधों पर पड़ जाता है। शराब का मुद्दा जुड़ा हुआ है, पुरुषों द्वारा हिंसा के मुद्दे के साथ। सरकार महिलाओं की मांग अनसुनी कर रही है। इसका एकमात्र कारण है कि शराब की बिक्री द्वारा सरकार बड़ा भारी मुनाफ़ा कमाती है।

महिला आंदोलन में शराबबंदी मुद्दे से स्पष्ट नज़र आता है कि महिलाओं की प्राथमिकताओं में शामिल है घर-गृहस्थी का सुचारु संचालन। घर में हिंसा व झगड़े के माहौल के बजाय अधिकांश महिलाएँ चाहती हैं शांति और अमन। बच्चों के सही लालन-पालन में उनकी विशेष रुचि व उत्सुकता है। इस सब के लिए ज़ाहिर है आर्थिक आधार मज़बूत रखने की आवश्यकता, और साथ में मानसिक प्रताड़ना से मुक्ति।

1970 दशक में महिलाओं ने बढ़ती **महंगाई-विरोधी अभियान** छेड़ा। इस अभियान का सबसे सशक्त रूप महाराष्ट्र राज्य में मिला। समाजवादी दल की मृणाल गोरे, वामपंथी पार्टी (मार्क्सवादी) की अहल्या रांगनेकर व अन्य नेत्रियों ने हज़ारों महिलाओं को इस मुद्दे पर संगठित कर दिखाया! 'बढ़ती कीमतों के खिलाफ़ महिला मोर्चा' गठित किया। भारी तादाद में घरेलू महिलाओं ने भी इसमें भाग लिया। विरोध प्रकट करने के नए और अद्भुद तरीके

पैदा हुए। हाथ में बेलन पकड़कर, महिलाओं ने दूसरे हाथ में थाली थाम ली। थाली पीटती हुई वे मोर्चे पर निकल पड़ीं। इसी तरह घी के खाली डब्बे हाथ में पकड़ (या तेल की खाली बोतलें इत्यादि) वे सड़क पर जलूस बनाकर निकल पड़तीं। आम इन्सान स्वतः ही इस अभियान के साथ जुड़ जाता था। बीस हज़ार महिलाएँ तक इकठ्ठी हो जाती थीं। उचित दर की दुकानों पर धरना देतीं, या फिर किसी सम्बंधित अधिकारी का घेराव करतीं।

गुजरात में भी बढ़ती दरों के खिलाफ़ अभियान फैला। गुजरात में इसका नाम पड़ा 'नव निर्माण आंदोलन'। व्यापक स्तर पर छात्र-छात्रा इससे जुड़ गए। हज़ारों की तादाद में गृहणियाँ भी शामिल हुईं। नव निर्माण आंदोलनकारियों ने भूख हड़ताल की, नाटक द्वारा अदालत में चल रहे मुकदमे दर्शाये, और प्रभात फेरियों द्वारा नये सवेरे का स्वागत किया।

जय प्रकाश नारायण के '**सम्पूर्ण क्रांति**' की विचारधरा के साथ बिहार व उत्तरप्रदेश के कई युवक-युवतियों ने लोक-राजनीति में प्रवेश किया। 'छात्र युवा संघर्ष वाहिनी' का गठन हुआ। समर्पित कार्यकर्ताओं ने अपना घर-बार छोड़कर सघन क्षेत्रों में कार्य शुरू किया। इन कार्यकर्ताओं में शामिल थीं मणिमाला, नीलम, कनक इत्यादि। महिला कार्यकर्ताओं ने किसान संघर्ष में पूरा योगदान दिया, साथ में ग्रामीण महिलाओं के खास मुद्दों पर बातचीत शुरू की। कई युवक कार्यकर्ताओं ने गाँव वालों के साथ रहकर, घनिष्ठ सम्बंध स्थापित किये, और सामंतवादी फंदों की जकड़न के खिलाफ़ उन्हें जागरूक व उत्साहित किया। बोधगया क्षेत्र के गाँव वाले स्वयं इकट्ठा बैठकर अपनी समस्याओं पर बातचीत करते, फिर लोकनीति तैयार करते। लोगों की चर्चाओं द्वारा ज़मीन से लेकर दहेज प्रथा और बलात्कार तक के मुद्दे सामने आए। ज़मीन का सही बँटवारा कैसे हो, इसको लेकर कई बैठकें हुईं, कागज़ातों की जाँच-पड़ताल, कानून का अध्ययन व अदालत का उपयोग हुआ। आख़िर, भारी मात्रा में ज़मीन का बँटवारा गरीब किसानों के हित में हुआ। तब, गरीब महिलाओं ने यह बात सामने रखी कि ज़मीन केवल पुरुषों के नाम नहीं लिखी जानी चाहिए। यह एक तरह से एकदम नया मुद्दा था। और अंततः सभी को मानना पड़ा कि मुद्दा एकदम सही है। यदि ज़मीन केवल मर्दों के नाम दर्ज़ हो जाती है तो इस अन्याय द्वारा पुरुषसत्ता बढ़ेगी और सम्भवतः घरेलू हिंसा भी बढ़ेगी। इस संघर्ष से साबित हुआ कि समता की ज़रूरत वर्गों के बीच तो है ही, परन्तु प्रत्येग वर्ग के अंतरगत लैंगिक आधार पर भी उतनी ही आवश्यक है। बोधगया संघर्ष में ज़मीन महिला व पुरुष, दोनो के नाम लिखी गई। देश के अन्य भागों में आगामी वर्षों के दौरान मिलती जुलती मांगें सामने आईं। महिलाओं के सम्पत्ति पर अधिकार

को लेकर कई लड़ाइयाँ लड़ी गईं और देश में आज भी यह एक ज्वलंत मुद्दा है।

सन् 1975 में देश में 'आपातकालीन स्थिति' घोषित की गई जिसके तहत सरकार ने जन-आंदोलनों पर कड़ा अंकुश लगाया। देश की जनता सरकार की नीतियों व विकास की दिशा पर हज़ारों सवाल पूछने लगी थी। इस खुले-आम विरोध के कारण सरकार सहम गई थी। लाखों-करोड़ों लोग अपनी-अपनी तरह से सरकार की क्षमताओं पर प्रश्न-चिन्ह लगा रहे थे, और विकल्प खोजने व बनाने लगे थे। सरकार इस सब को कैसे सह सकती थी? और अपने को संकट में पाकर, लोगों में उठती आंदोलन की लहर दबाने के लिए भारत की सरकार ने आपातकालीन स्थिति लागू की।

1975 वर्ष का एक अन्य महत्त्व भी था। संयुक्त राष्ट्र ने इस वर्ष को **'अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष'** घोषित किया था। महिलाओं के मुद्दों पर कई स्तरों पर नई तरह से गौर होने लगा। अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए जिनमें दुनिया के अनेक देशों में महिलाओं की दोयम दर्जे वाली स्थिति के अनेक पहलुओं पर चर्चा हुई। नए शोध होने लगे। नारीवादी दृष्टि से अनेक मुद्दे उठे, व नई सोच ने सर उठाया।

भारत में 'भारत में महिलाओं का दर्जा' नामक रपट तैयार की गई। सरकार की तरफ़ से एक कमेटी बनाई गई थी, जिसने विस्तृत शोध द्वारा यह रपट तैयार की। इस रपट द्वारा चौंका देनेवाले तथ्य व आँकड़े सामने आए। देश में लगातार गिरती महिलाओं की स्थिति के अनेक पहलू उजागर हुए। देश में पुरूषों के मुकाबले महिलाओं की संख्या की दर लगातार घटती जा रही थी। ऐसा क्यों?

देश में एक तरफ़ स्वत: ही महिला आंदोलन ज़ोर पकड़ रहा था। दूसरी ओर महिला वर्ष व महिला-दर्जा रपट के चलते महिला-आंदोलन का औचित्य सभी को मानना पड़ा। महिलाओं ने स्वयं आंदोलन का पथ छोड़ा नहीं। आपातकालीन स्थिति के चलते दमन के बावजूद, महिला संगठन व कार्यरत जुझारू महिलाएँ पीछे नहीं हटीं। बल्कि 1970 दशक के दौरान कई सारे नए संगठन व संस्थाएँ गठित हुई।

औरत, संगठन व राजनीति

नई महिला समूहों में से एक था 'प्रगतिवादी महिला संगठन'। इस समूह का गठन 1974 में हैदराबाद में हुआ। इसका गठन ऐसी वामपंथी महिलाओं ने किया जिन्होंने लम्बे वर्षों तक पुरुष साथियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर पूंजीवाद व सामंतवाद के खिलाफ़ जंग छेड़ा

था। परन्तु संयुक्त लिंग दलों में कार्य करते करते इन महिलाओं को धीरे-धीरे अहसास हुआ कि दलों के अंदर भी महिलाओं को दोयम दर्जा ही प्राप्त है। दल या संगठन कितने ही प्रगतिवादी क्यों न हों, पुरुष-सत्ता की जकड़न बनी रहती दीखी। अत: अपने स्वयं के उत्पीड़न को समझ-पहचानकर, इन महिलाओं ने अपनी राजनैतिक यात्रा को एक नया मोड़ दिया।

स्वायत्त महिला संगठनों की धारा इसी तरह ईजाद हुई। स्वायत्त महिला संगठन अनेक व्यापक विचारधाराओं से जुड़े हैं। परन्तु अपनी स्वतंत्रता का संरक्षण करने के लिए इन समूहों की सदस्यता केवल महिलाओं तक सीमित है। इस तरह वे एक नया माहौल बना पाते हैं जिसमें बेझिझक महिलाएँ अपनी बातें रखें। पुरुषों की निगरानी, हस्तक्षेप या टिप्पणियों से दूर। ये संगठन पुरुष-सत्ता के कुछ पहलुओं का बेहद सूक्ष्म विश्लेषण करती आई हैं।

1970 और 1980 दशकों में अनेक स्वायत्त महिला संगठन गठित हुए, जिनमें शामिल हैं बम्बई की 'फोरम अगेंस्ट रेप' ('बलात्कार-विरोधी मंच'), दिल्ली की 'सहेली', हैदराबाद की 'अस्मिता', बैंगलोर की 'विमोचना', तमिलनाडू की 'पेनुरम्मा इयक्कम', उत्तरप्रदेश का 'महिला मंच', इत्यादि। आगामी दशकों में स्वायत्त महिला संस्थाओं ने अपनी पहचान और गहरी बनाई। स्वायत्त महिला संस्थाओं के तहत पूरे देश के स्तर पर सम्मेलन हुए हैं जिनमें हज़ारों महिला कार्यकर्ता मिलकर नई दिशाएँ ढूँढ निकालती हैं। ये सम्मेलन बम्बई, पटना, कोचीन, रांची वगैरह अलग-अलग इलाकों में रखे गए हैं। जिससे हर क्षेत्र की महिला समस्याएँ व महिला संगठन शामिल हो पाएँ।

विचारधारा के तहत कुछ महिला संगठन विशेष मुद्दों पर अधिक ध्यान देते हैं। 1975 में गठित वामपंथी 'पुरोगामी महिला संगठन' खास-तौर पर दलित महिलाओं व देवदासियों से जुड़े मुद्दे उठाती आई है। उसी वर्ष महाराष्ट्र में गठित 'स्त्री मुक्ति संगठन' व 'महिला समता सैनिक दल' भी दलित महिलाओं की आवाज़ को प्राथमिकता देने के लिए प्रतिबद्ध थे।

कई **राजनैतिक दलों के तहत महिला संगठन** रचे गए। 1977 में समाजवादी महिलाओं ने दिल्ली में 'महिला दक्षता समीति' बनाई। प्रोमिला दण्डवते व सुमन कृष्णकांत जैसी जानी-मानी नेत्रियों ने इसका मार्गदर्शन किया।

वामपंथी दल (सी.पी.आई.) की 'नेशनल फ़ेडरेशन ऑफ इण्डियन विमिन' का इतिहास बहुत लम्बा है। वामपंथी दल-मार्क्सवादी के तहत 1978 में 'अखिल भारतीय जनवादी

महिला समिति' गठित हुई। इस समीति की शाखाएँ देशभर में फैलने लगीं। शहरी व ग्रामीण इलाकों में फैलीं। कार्यकत्ताओं का खास उद्देश्य था श्रमिक व गरीब महिलाओं तक पहुँचना। शहरों में छात्राएँ भी जुड़ीं, फ़ैक्टरी की मज़दूरिनें भी। बस्ती की साधारण महिलाएँ भी जुड़ीं।

राजनैतिक दलों में देखा जाए तो कांग्रेस से जुड़ी 'महिला कांग्रेस' है, और भारतीय जनता पार्टी से जुड़ी 'दुर्गा वाहिनी' व हज़ारों स्वयं-सेविकाएँ। इन समूहों द्वारा महिलाओं को जोड़ने के उद्देश्य से कई मुद्दे उठाये जाते हैं। समय-समय पर अभियान भी छेड़े जाते हैं। स्थानीय इकाइयाँ बनाने का प्रयास रहता है।

परन्तु प्रत्येक दल से जुड़ी महिलाएँ कहीं न कहीं दलों में अंतरनिहित पुरुष-सत्ता से उत्पीड़ित रहती हैं। किसी दल में पुरुष-सत्ता कम हो सकती है, तो किसी में अधिक। कुछेक असाधारण महिलाएँ ही यहाँ टिक पाती हैं, और जहां-तहां कुछ उल्लेखनीय काम कर दिखाती हैं। इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री पद पर बरसों तक टिकी रही थीं। कुल मिलाकर राजनैतिक दलों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए ज़रूरी है कि महिलाओं को दलों के अंदर सही दर्जा मिले। 1990 दशक तक सुषमा स्वराज, राबड़ी देवी, साधवी रीताम्बरा, मायावती, जयललिता और ममता बनर्जी जैसी कुछ महिलाओं ने अपने-अपने क्षेत्र की राजनीति में अपना नाम ज़रूर बना लिया है। परन्तु कुल मिलाकर संगठित महिला शक्ति का विकास इनमें से किसी ने नहीं किया है। महिलाओं के मुद्दे खास गम्भीरता से नहीं उठाये हैं।

राजनीति में महिलाओं की सार्थक भागीदारी पर 1990 दशक में विशेष पहल हुई। संविधान के 73वें व 74वें संशोधनों द्वारा देशभर में पंचायती राज पर ज़ोर दिया गया, व **पंचायती राज्य में महिलाओं** की भागीदारी अनिवार्य मानी गई। ग्रामीण पंचायतों व नगरपालिकाओं में महिलाओं की भागीदारी रहे, इसके लिए इन सभी स्थानीय इकाइयों में कम-से-कम तैंतीस प्रतिशत स्थान महिलाओं को मिलना अनिवार्य बन गया है। इन संशोधनों को पारित करने के बाद जहाँ-जहाँ चुनाव हए वहाँ-वहाँ उथल-पुथल भी नज़र आया, और अनेक बदलाव भी। महिला आंदोलन की कई संस्थाएँ पंचायतों में नई या अशिक्षित महिलाओं को प्रशिक्षण देने के लिए मैदान में आ खड़ी हुईं। राजनीतिक दाँव-पेंच कुछ ऐसे जटिल हैं कि साधारण महिला कहीं खो भी सकती है। राजस्थान की पंचायत सदस्यों में से कुछ ने बताया

कि पुरुष प्रधानता के चलते उन्हें पंचायत बैठकों में बुलाया ही नहीं जा रहा! कुछ अपने पतियों को अपने साथ ले जाती हैं। परन्तु अधिकांश सदस्यों ने बताया कि पंचायत में भागीदारी द्वारा वे कई ज्वलंत मुद्दे सामने ला पाई हैं। भ्रष्टाचार से लेकर गाँव में स्कूलों, कुँओं व सड़कों के निर्माण तक के मुद्दों को महिला सदस्यों ने आगे बढ़ाया है। उर्मुल ट्रस्ट, बीकानेर में 1995 की एक राजस्थान-स्तरीय महिला बैठक में कई महिला पंचायत सदस्यों ने स्पष्ट किया कि "चाहे अशिक्षित हैं, परन्तु सब-कुछ समझ लेते हैं। जो ठान लेते हैं, वो कर दिखाते हैं।" अन्य राज्यों से भी इसी प्रकार के मिले-जुले अनुभव सामने आए हैं।

पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी से उनकी राजनैतिक समझ तीखी होती जा रही है, यह तथ्य राजस्थान, केरल, मध्यप्रदेश, हरियाणा, कर्नाटका, व उत्तरप्रदेश सभी राज्यों में साफ़ नज़र आ रहा है। पंचायत की सदस्याओं ने गाँव में कई सुधार किए, नए मामलों पर गौर किया, व भ्रष्टाचार का पर्दाफ़ाश किया है। पुरुष निर्धारित सामाजिक संरचना में सत्ता की बागडोर आम-तौर पर पुरुषों के ही हाथों में रहती है। राजनीति में कदम रखकर साधारण महिलाएँ नए अस्तित्व गढ़ रही हैं, व अपने-अपने इलाके को सही तरह से सुधारने की कोशिश में व्यस्त हैं। पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी से देश के कोने-कोने में एक स्फूर्ति-भरी लहर फैली है।

नारीवादी विचारधारा के मुताबिक सार्थक राजनीति लिंग-भेद, जाति-भेद व वर्ग-व्यवस्था सभी के खिलाफ माहौल बनाती हैं। दलित आंदोलन से उपजी चेतना नारीवादी आंदोलन में फैल जानी चाहिए। कौशल्या बैसंत्री जैसी कर्मठ दलित कार्यकर्ता की जीवनी द्वारा दलित आंदोलन में महिलाओं की भागेदारी पर प्रकाश डलता है। इसी तरह रमणिका गुप्ता जैसी कर्मठ श्रमिक आंदोलन की कार्यकर्ता के अनेक लेखों द्वारा श्रमिक आंदोलन में महिलाओं की भागेदारी के बारे में मालूम होता है। राजनीति में महिलाओं के सार्थक हस्तक्षेप के लिए ये सब आयाम अति-आवश्यक हैं।

औरत और श्रम

ज़ाहिर है कि महिलाओं का संघर्ष बहु-आयामी है। यह संघर्ष एक नहीं, अनेक स्तरों पर ज़ारी है। इनमें से एक अति-आवश्यक आयाम है: आर्थिक। अपनी आर्थिक स्थितियों को लेकर देशभर की महिलाओं ने 1970 दशक से लेकर आज तक कई तरह के प्रयास किए हैं।

औरत और श्रम के क्षेत्र में 'सेवा' संस्था अग्रगणी मानी जाती है। 'सेवा' यानी 'सेल्फ एम्प्लायड विमिन्स एसोसियेशन' गांधीवादी ट्रेड यूनियन का रूप लेकर विकसित हुई है। ईला भट्ट नामक विख्यात समाज-सेवी ने इसे नेतृत्व दिया, तो लाखों साधरण श्रमजीवी महिलाओं ने इसमें जान फूँकी। लगभग ढ़ाई लाख सदस्याओं की इस संस्था की शुरूआत अहमदाबाद में हुई। पुराने चिथड़ों से रज़ाई बनाती हुई औरतें, सर पर बोझा ढोती औरतें, ठेला ठेलती महिलाएँ, पेवमेंट पे सब्जी बेचती महिलाएँ, सिलाई मशीन पर घंटों बैठी या दिनभर बूटियाँ टाँकती महिलाएँ--इनके श्रम को सही दाम दिलवाने का उद्देश्य लेकर इस संस्था ने संघर्ष छेड़ा। धीरे-धीरे मज़बूती आई। एकदम असंगठित क्षेत्रों की महिलाओं को श्रम का सही दाम मिलेगा ही नहीं, जब तक वो आपस में एका न बना लें--यह बात साबित होने लगी। संगठित होकर इन महिलाओं ने छोटी-छोटी जीत हासिल की। छोटी जीत से हिम्मत लेकर कदम आगे बढ़ाती गईं। लीलाबेन दण्तानी की आपबीती महिला आंदोलन की एक बड़ी जीत है। बचपन से लीलाबेन सब्ज़ी बेचने का काम करती थीं। अहमदाबाद के माणिक चौक में अपनी टोकरी के लिए जगह ढूँढकर, सब्ज़ी बेचतीं। इसी कमाई के सहारे उनका परिवार चलता था। फिर एक दिन नगर की पुलिस ने सभी सब्ज़ीवालियों को वहाँ से उठने का आदेश दे दिया! अब वे वहाँ सब्जी नहीं बेच सकतीं--ऐसा ऐलान हो गया।

तब क्या था! 'सेवा' के तहत सब्ज़ी बेचने वाली महिलाएँ संगठित हुईं, और ऊपर तक उनकी माँग पहुँच पाई। रोज़ी-रोटी का सवाल था। उसी समय 'सेवा' में वीडियो-फिल्म प्रशिक्षण दिया जा रहा था। महिला-वीडियो-टीम बनी। इसमें लीलाबेन ने भी प्रशिक्षण लिया, और अपनी ही सब्ज़ी बेचनेवाली बहनों के साक्षात्कार ('इंटरव्यू') लिए। सब्ज़ी बेचनेवालों के हक का यह मामला गुजरात हाईकोर्ट तक गया, और भारत के सुप्रीम कोर्ट तक भी। सुप्रीमकोर्ट ने साफ़ किया कि इन महिलाओं का हक है कि उन्हें अपना काम करने के लिए उचित स्थान प्राप्त हो। सुप्रीम कोर्ट में स्थिति स्पष्ट करने के लिए वीडियो फ़िल्म भी दिखाई गई थी! आखिर, सब्ज़ी बेचने वालों को माणिक चौक से हटाया नहीं जा सकता--यह आदेश लागू हो गया। और साथ में, लीलाबेन दण्तानी ने एक नया हुनर प्राप्त किया, जिससे वो सेवा-वीडियो-टीम की सदस्या बन गईं।

'सेवा' के तहत दर्जनों श्रेणी के कार्यों में जुटी बहनें संगठित हो पाई हैं। घरों में ही बीसियों तरह के कार्य चल रहे हैं-- बीड़ी बनाना, बिंदी चिपकाना, स्विच बनाना, सिलाई-कढ़ाई करना, लिफ़ाफ़े बनाना, ज़रदोज़ी का काम, चिकन का काम इत्यादि। इन सभी में महिलाओं

को सही दर पर मेहनताना नहीं मिलता है। घर-घर में अलग-अलग औरत न तो व्यापारी से लड़ सकती है, क्योंकि लड़ाई में अकेली हो जाएगी, और वह काम भी हाथ से निकल जाएगा, न ही वो बाहर निकल पाती है क्योंकि फिर घर-बार व बच्चों को कौन देखेगा? अतः गरीब घरेलू औरत आज भारी पैमाने पर तरह-तरह के छुट-पुट काम कर रही है-और इसका सही दाम नहीं पा रही है। देश के प्रत्येक राज्य में यह स्थिति कायम है। दिन में अठारह-बीस घंटों तक कई महिलाएँ जागकर तरह-तरह के कार्यों में अनवरत डूबी रहती है। और तब भी गरीबी पीछा नहीं छोड़ रही।

'सेवा' के तहत संगठित महिलाओं की स्थिति में सुधार स्पष्ट है। घरेलू समस्याओं और ज़िम्मेदारियों को भी श्रमजीवी सदस्याएँ आपस में बाँटती हैं। हारी-बीमारी व सामाजिक खर्चों के लिए कर्ज़ न लेना पड़े इसका उपाय ढूंढ निकालती हैं। छोटी बचत योजनओं से शुरू कर धीरे-धीरे 'सेवा' ने अपना महिला बैंक तक खड़ा कर लिया है। महिलाएँ अपनी स्थिति सुधारने के लिए जब कर्जा लेती हैं तो उसे नियमबद्ध तरीके से वापस भी करती हैं--यह साबित हो गया। और जो पैसा लिया है उसे अपने काम में लगाकर अपनी व परिवार की स्थिति में सुधार भी ले आती हैं।

'सेवा' की शाखाएँ अहमदाबाद के अलावा गुजरात के अन्य इलाकों में कार्यरत हैं। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश व दिल्ली में भी 'सेवा' विभिन्न श्रमजीवी महिलाओं के साथ काम कर रही है। 'सेवा' से मिलते-जुलते प्रयास अब अनेक महिला संस्थाओं ने शुरू किए हैं। असंगिठत क्षेत्र की महिलाओं की स्थिति गम्भीर है, चाहे दक्षिण भारत हो या उत्तर के राज्य। सभी जगह आर्थिक शोषण भयानक है। अनेक संस्थाएँ - जैसे 'उद्योगिनी', 'ऐक्शन इण्डिया', 'विकल्प', 'अन्नपूर्णा', 'सेवा भारती', 'दस्तकार' इत्यादि यह प्रयास कर रहे हैं कि महिला श्रमिक को अपने श्रम के अनुसार उचित दाम मिले। हुनर के विकास से लेकर बिचौलियों व व्यापारियों के साथ सीधा संघर्ष- ऐसे सभी उपायों पर ये संस्थाएँ विचार व कार्य कर रही हैं। 'सेवा' के तहत 'श्रम-शक्ति' नामक रपट में सैंकड़ों तरह की महिला कारीगरों की दशा बखानी गई है। दूर-दराज इलाकों व महानगरों सभी में इन महिलाओं की संगठित शक्ति विकसित करने के कई प्रयास कायम हैं। आंशिक सफलता भी हासिल हुई है। परन्तु देश की आर्थिक नीतियाँ व सामान्य समकालीन स्थितियाँ ऐसी हैं कि अधिकांशतः महिला श्रमिकों के काम का आज भी सही दाम नहीं मिल रहा।

आर्थिक क्षेत्र में अपने अभिकारों की लड़ाई कई दलित व पिछड़े श्रमिक वर्गों ने मोल ली

है। 1980 व 1990 दशकों के दौरान ऐसे अनेक संघर्ष सामने आए हैं जिनमें औरत मर्द सभी श्रमिकों ने कंधे से कंधा मिलाकर कदम बढ़ाए हैं। जैसे, केरल में मछुआरों का संघर्ष, मध्य प्रदेश में 'छत्तीसगढ़ मजदूर श्रमिक संघ', उत्तर प्रदेश में 'घाड़ क्षेत्र मज़दूर मोर्चा', तमिल नाडू व अन्य राज्यों में 'निर्माण मज़दूर संघ', इत्यादि। इन सभी के तहत महिलाओं ने श्रमिकों की हैसियत से सम्मिलित संघर्ष में भागीदारी निभाई है, और साथ ही 'छत्तीसगढ़ महिला मोर्चा', 'घाड़ क्षेत्र महिला मोर्चा' इत्यादि गठित करके खास महिलाओं का शोषण भी उजागर किया है। सभी जगह पाया जाता है कि साथ काम करने के बावजूद, औरत कम खाती है, उसका स्वास्थ्य लगातार गिरता जाता है, व घरेलू हिंसा भी उसी पर होती है। इन संघर्षों के चलते महिलाओं की समस्याओं को सुलझाने के अनेक प्रयास भी हुए हैं। सम्मिलित संघर्षों में भी आंशिक सफलता मिली है। इन तमाम संघर्षों से साबित हो गया है कि साधारण महिलाएँ किसी मर्द से कम जुझारू नहीं, बल्कि मौका मिलने पर वे आश्चर्यचकित करने वाली कुरबानियाँ दे डालती हैं। उनकी लड़ाई कई बार शोषण की तहों को परत-दर-परत खोलकर सामने रखती है। और अनेक बार सम्मिलित संघर्षों में आम महिलाओं ने नेतृत्व की बागडोर भी सम्भाली है।

श्रमिक वर्ग में ट्रेड यूनियनों के तहत भी महिला व पुरुष श्रमिकों ने अपनी मांगें उठाई हैं। ये ट्रेड यूनियन विभिन्न दलों या विचारधाराओं से ताल्लुक रखते हैं। जैसे, 'सीटू' काम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) से जुड़ा है। 'हिन्द मज़दूर पंचायत' समाजवादी दृष्टिकोण का पक्षपात करती है, इत्यादि। इन ट्रेड यूनियनों ने भी महिला श्रमिकों को संगठित करने के लिए कई प्रयास किए हैं, और कुछ हद तक सफलता भी प्राप्त हुई है।

इन प्रयासों से थोड़ा हटकर है खास स्थिति उन महिलाओं की जो पूर्ण रूप से घरेलू हैं, यानी घर-गृहस्थी के कार्यों में अपना अधिकांश समय देती हैं। इन महिलाओं का अदृश्य श्रम आंकना बहुत कठिन है। विडम्बना है कि समाज व समुदाय के लिए घरेलू काम व बच्चे पालने के काम अत्यंत आवश्यक हैं। परन्तु गृहिणी को इन कार्यों के लिए कोई भी आर्थिक पहचान नहीं मिलती। वे कमाऊ नहीं है, इसलिए पूर्ण रूप से परिवारजनों पर आश्रित रहती हैं। इन महिलाओं के लिए आवश्यक है कि घरेलू काम की पहचान औपचारिक तौर पर हो। परन्तु इसके लिए अभी तक इक्के-दुक्के प्रयासों के अलावा कोई ठोस कदम नहीं लिया गया है। हाँ, घरों में नौकरानी का काम निभाती महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण के लिए कुछ सार्थक प्रयास हुए हैं। 'घरेलू कामगार यूनियन' के तहत दिल्ली में कुछ घरेलू कार्य

करने वाली नौकरानियाँ थोड़ी बहुत संगठित हुई हैं। पुणे में ऐसे ठोस प्रयास मौजूद हैं। पाया गया है कि इन महिलाओं का आर्थिक शोषण होता है, साथ में यौनिक शोषण की घटनाएँ भी सामने आई हैं। ऐसी महिला श्रमिक अपनों को छोड़कर कई बार काम ढूंढते अन्य शहर में, गैर परिवारों के साथ रहती है। इस स्थिति में वो अकेली पड़ जाती हैं। उनका भयंकर शोषण हो जाता हैं। दूसरी ओर, वापस गांव में उनकी शादी मुश्किल से हो पाती हैं क्योंकि वो 'बिगड़' चुकी हैं।

घरेलू कार्यों से सम्बंधित अनेक हुनर की स्थिति समझने के लिए कई महिला व स्वास्थ्य संस्थाओं ने कुछ कदम उठाए हैं। उल्लेखनीय है कि देशभर में अधिकांश बच्चे आज भी पारम्पारिक दाइयों के हाथों जन्मते हैं। इन दाइयों के हुनर की इज्ज़त तो है, परन्तु इन्हें अछूत माना जाता है और थोड़े से पैसे, या सिर्फ़ एक धोती, में टरका दिया जाता है। बिहार में 'महिला जागृति केन्द्र', कर्नाटका में 'ऐक्या', उत्तर प्रदेश में 'महिला समाख्या' इत्यादि के तहत पारम्पारिक दाइयों को संगठित करके उनके काम को जानने, पहचानने और सही मूल्य दिलवाने के कई प्रयास कायम हैं।

शिक्षित वर्गों में भी महिलाएं अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में संघर्षरत हैं। नर्सों की यूनियन खास जुझारू ढंग से अपनी अनेक मांगों को उभारता है। धरना, हड़ताल वगैरह करके ये नर्सें ध्यान खींचती हैं इस ओर : कि घंटों लम्बी ड्यूटियाँ निभाकर भी उन्हें तनख्वाह बहुत थोड़ी मिलती है। वे मरीज़ों की सेवा व उपचार में माहिर हैं, तब भी डॉक्टर के मुकाबले वे बहुत तुच्छ मानी जाती हैं।

अध्यापिकाएँ व सरकारी कार्यकत्रियाँ भी समय-समय पर अपनी खास मांगें उठाती आई हैं। एक ही पेशे में कार्यरत मर्द-औरतों में भेद-भाव के उदाहरण एक नहीं अनेक हैं। काम की जगह औरत का दैनिक शोषण व छेड-छाड़ भी होती है। ऐसे मामलों को महिलाएँ बहुत बार डरकर दबा लेती हैं, परन्तु कई हिम्मत करके सामने भी ले आती हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय में एक प्रोफ़ेसर के खिलाफ़ उनकी सह-कर्मी ने जब आरोप लगाया, तब कई अन्य छात्राओं व अध्यापिकाओं ने भी धीमे-धीमे अपनी बातें निकालीं--हाँ, इसी प्रोफ़ेसर ने उनके साथ भी छेड़खानी की थी। 'स्वाभिमान' नामक संस्था ने यह किस्सा उठाया, व 'मानुषी' नामक पत्रिका ने पूरी जाँच-पड़ताल करके तथ्य सबके सामने रख दिये। इस काण्ड में दोषी को अपने पद से हटाया गया। कुछ सज़ा तो मिली! परन्तु ऐसे सैकड़ों काण्ड होते हैं जहाँ इन्साफ की छाया तक नहीं भटक पाती। इस स्थिति को देखते हुए, हाल ही

में एक कानून पारित किया गया जिसके तहत कार्यक्षेत्र में छेड़खानी के लिए कड़ी सज़ा करार दी गई है। अब देखना है कि यह कानून कहाँ तक लागू हो पाता है।

कामकाजी महिलाओं के आधुनिक व पारम्पारिक, सभी आयामों को कहीं न कहीं महिला आंदोलन छू रहा है, टटोल रहा है। मधुबनी चित्रकार, घरेलू उपचार करने वाली बूढ़ी माँ, पेड़-पौधा खेती-बागवानी करने वाली किसानिन, व नई से नई तकनीकी जानकारी रखने वाली डाक्टरनी, इंजीनियर, कम्प्यूटर वैज्ञानिक व महिला पुलिस अफ़सर--सभी महिला होने के नाते कहीं न कहीं एक-दूसरे की स्थितियाँ समझने की क्षमता रखती हैं। कोई न कोई सूत्र इन्हें एक-दूसरे से बांधता है। विश्लेषण किया जाए तो समाज के कई ढांचे इनको एक-दूसरे से अलग-अलग क्यों रखते हैं? इसमें पितृसत्ता का खेल नज़र आता है।

औरतों के खिलाफ़ हिंसा

महिलाएँ एक-दूसरे से कट जाती हैं--सामाजिक ढांचों व मनहूस विचारधाराओं के चलते। विवाह की प्रथा को ही लीजिए। वैवाहिक स्त्री 'पवित्र' मानी जाती है, जबकि अविवाहित, विधवा या तलाकशुदा स्त्री को 'मनहूस' मानने की मान्यता आज तक प्रचलित है। यौनिक कर्मचारी जो अपना देह बेचकर कमाती है, उस को तो समाज में जगह ही नहीं मिलती। वे समाज के हाशिए पर टिकी रहती हैं, जबकि उनके कई ग्राहक समाज में उच्च स्थान प्राप्त किये हुए हैं। 'पतिता' कही जाने वाली इन महिलाओं की संख्या कम नहीं। इनकी स्थिति बेहद दर्दनाक है। रोगग्रस्त, गरीब व परिवार-हीन इन महिलाओं को अपना बच्चा पालने तक की अनुमति नहीं। यौन कामगारों के मुद्दे उठाने के लिए कुछ संस्थाएँ हाल में मैदान में आई हैं--'पतितोद्धार संघ' 'ज्वाइंट विमिन्स प्रोग्राम' इत्यादि। दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा के तहत औरतों के दैनिक शोषण की रोकथाम के लिए भी कुछ संस्थाओं ने ठोस प्रयास किये हैं। जैसे, समाज शास्त्री छाया दत्तार बताती हैं कि बेलगाम में 'बीड़ी मज़दूर यूनियन' के तहत देवदासियों को भी जोड़ने, व पारम्पारिक शोषण से मुक्त कराने का काम सिर लिया गया।

समाज की संरचना की जड़ों में ही कुछ ऐसी कुरीतियाँ व कुप्रथाएं हैं जिन्हें खत्म करना जरूरी भी है, और बेहद कठिन भी। **दहेज प्रथा** इनमें से एक है। 1980 दशक के दौरान दहेज-प्रथा एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरी।

अनेक विचारधाराओं से प्रभावित होकर देशभर में हज़ारों लाखों महिलाएँ दहेज के खिलाफ़ लामबंद हुईं। ज़ाहिर है कि अलग समूह व संगठनों की सोच व मंज़िलों में अंतर था, और मतभेद भी। परन्तु सराहनीय तथ्य है कि आपसी फ़र्क और मतभेदों के बावजूद, कई मुद्दों पर अनेक महिलाएँ एकजुट होकर संघर्ष करती आई हैं। ऐसा महत्वपूर्ण संयुक्त मोर्चा बना दहेज के प्रश्न को लेकर।

समाज के हर तबके में दहेज का बढ़ता प्रकोप दिख रहा था। देश के अनेक कोनों में जमकर दहेज-विरोध के मूल में था औरत को बाज़ारू उपभोक्ता वस्तु के रूप में देखे जाने का विरोध।

दहेज के मुद्दे के साथ कई ज्वलंत मुद्दे जुड़े पाये गये। एक ओर था घरेलू हिंसा व हिंसक मानसिकता का प्रश्न। दूसरी ओर था सम्पत्ति में औरत के हक का प्रश्न।

दहेज-विरोधी आंदोलन देश के कोने-कोने में फैले। पंजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटका, गुजरात, मध्यप्रदेश, बंगाल व दिल्ली सभी इलाकों से दहेज विरोधी जलसों की खबरें आने लगीं।

1979 से दिल्ली में दहेज-विरोधी आंदोलन ने आधार जमाया। 'स्त्री संघर्ष', 'ऐक्शन इण्डिया' व विश्वविद्यालयों की छात्राओं ने मिलकर अभियान छेड़ा। इस अभियान का एक महत्त्वपूर्ण पहलू था नुक्कड़ नाटक द्वारा आम लोगों के बीच अपनी बातें ले जाना। 'ऊँ स्वाहा' नामक नाटक दर्जनो नहीं, सैकड़ों बार खेला गया। सड़क पर, पार्क में, दफ़्तरों के सामने, बस्ती-मुहल्लों में व कॉलेज और स्कूल के प्रांगण में नाटक के माध्यम से हज़ारो-लाखों लोगों तक दहेज-विरोध की बात पहुँची। आम इन्सान से मुद्दों पर चर्चा शुरू करने का यह अनोखा और लोकप्रिय तरीका रहा।

'ऊँ स्वाहा' नाटक ने आम महिला की ज़िंदगी की सच्चाइयाँ सबके समस्त रखीं। आम महिला का अपनी ही ज़िंदगी पर बस नहीं होता। कभी बाप की आज्ञा मानती है तो कभी पति की, और आगे चलकर अपने ही बेटे की। तिसपर कई घरों में महिलाओं की स्थिति इतनी गिर चुकी है कि उन्हें बर्बर हिंसा का शिकार बनाया जाता है। दहेज के नाम पर नई-नवेली दुल्हन की हत्या तक कर दी जाती है। सपनों को संजोकर नए घर आई दुल्हन असलियत का घिनौना चेहरा देखती है तो एकदम हताश हो जाती है। शादी के बाद पति-सास इत्यादि के हाथों उत्पीड़ित औरत की दुर्दशा सख्त से सख्त दिल को भी पिघला सकती है। गालियों तानों को झेलते हुए और दहेज बटोरकर लाने की मांग झेलते हुए, औरत

उदासीन और हताश हो जाती है।

महिला आंदोलनकारियों का एक नियम रहा है, कि न केवल दुर्दशा व हीनता दिखाई जाए, बल्कि कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण महिला की आंतरिक शक्ति को रोशन किया जाए। महिलाएँ न केवल चुपचाप पिटती हैं, बल्कि कई बार अपनी बात कहने, व्यक्त करने, के लिए बैचेन हो जाती हैं। नुक्कड़ नाटक करने वाली व देखने वाली - दोनो औरतें मानो एक सूत से बंध जाती है। दिखाने वाली महिला मानो दर्शक की आप बीती उसी के सामने प्रदर्शित कर रही है।

नुक्कड़ नाटक जैसे शक्तिशाली माध्यम द्वारा दहेज-विरोधी अभियान ने खूब दम पकड़ा। 1980 दशक में अनेक नारी संगठनों ने एकजुट होकर 'दहेज विरोधी चेतना मंच' का गठन किया। 'महिला दक्षता समिति', 'सहेली', 'जनवादी महिला समिती', 'कर्मिका', इत्यादि इस मंच में शामिल थे।

'दहेज विरोधी चेतना मंच' ने कई स्तर पर अभियान चलाया। कानून में उचित परिवर्तन की मांग उठाई। कानून लागू किये जाएँ, यह मांग उठाई। अपराधियों को पुलिस पकड़ने के बजाय कई बार उनके साथ मिलीभगत करती है--यह तथ्य उजागर किया। 1983 में दहेज कानून में संशोधन हुए, जिनके तहत यदि शादी के पाँच वर्ष के अंदर औरत की मौत होती है तो पुलिस द्वारा खोजबीन आवश्यक करार दी गई और पत्नी की खुदकुशी के मामलों में पति को साबित करना पड़ेगा कि ख़ुदकुशी करवाने में उसका कोई हाथ नहीं है।

1980 दशक में कुछ ऐसी महिलाएँ घर की चारदीवारी छोड़कर जलसों में शामिल हुईं जिनके निजी अनुभव इस मुद्दे के साथ जुड़े थे। इनमें थीं 'शाहजहाँ बेगम' व 'सत्यरानी चड्ढा'। ये दोनो साधारण गृहिणियाँ थीं। दोनो की बेटियाँ अपने-अपने ससुराल में जला दी गई थीं। इन दोनो ने कोर्ट-कचहरी के बहुत चक्कर लगाए, परन्तु इन्साफ़ नहीं मिला। दोनो ने ठान लिया-"मेरी बेटी तो गई। पर अब इस समाज में और किसी बेटी के साथ ऐसा सलूख नहीं होने देंगे।" अन्य कर्मठ महिलाओं के साथ मिलकर इन्हेंने 'शक्तिशालिनी' नामक एक अनोखी संस्था का गठन किया। 'शक्तिशालिनी' में न केवल सलाह व कानूनी मदद दी जाने लगी, अपितु निराश्रित महिलाओं को अल्पकालीन आश्रय देने की सुविधा भी बनाई गई।

1990 दशक में दहेज-प्रथा कम हो गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पूंजीवादी व

पितृसत्तात्मक व्यवस्था के चलते यह उलझन इतनी जल्दी खत्म होनी वाली नहीं है। परन्तु समाज में ऐसा जागरूक तबका भी पैदा हो रहा है जो इस कुरीति को अपनाने के लिए तैयार नहीं है। आज समाज में ऐसी अनेक महिलाएँ हैं जो दहेज-वाली शादी करने से स्वयं इन्कार कर देती हैं। ऐसे पुरुष व परिवार भी हैं जो अपने को इस कुरीति से दूर रख रहे हैं।

परन्तु दहेज प्रथा की जड़ अभी भी मज़बूत है। 1990 दशक में इस मुद्दे पर बहस ने एक खास मोड़ ले लिया। आज मुख्य मुद्दा यह है कि औरत को स्वयं किस सम्पत्ति पर हक है? अपने मायके में उसके क्या हक हैं? ससुराल में क्या? दहेज के नाम पर मायकेवाले अपनी ज़िम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु दहेज औरत की सम्पत्ति न होकर उसके पति व ससुराल वालों के ही हिस्से में आती है।

आम औरत का न तो कोई स्थायी घर होता है, न अपनी कोई निर्धारित पूंजी या सम्पत्ति। आज महिला आंदोलन इन प्रश्नों पर बहस छेड़े हुए है। 'दहेज' तो एक बहाना बन जाता है, ससुरालवालों के लालच को एक रास्ता मिल जाता है। परन्तु मुख्य प्रश्न है कि जब औरत सिर्फ़ एक मुहर, एक सौदे की वस्तु, बना दी गई है, तो लड़ाई केवल दहेज-प्रथा तक समीति नहीं रह सकती। समाज व परिवार में औरत की स्थिति के अनेक आयामों पर अभियान ज़ारी रखना होगा।

बलात्कार व यौनिक उत्पीड़न : 1970 दशक से आज तक भारतीय महिला आंदोलन ने यौनिक हिंसा व पारिवारिक हिंसा के खिलाफ़ जंग छेड़ा है। यौनिक हिंसा में छेड-छाड़ से लेकर बर्बर बलात्कार तक के मामले सामने आते हैं। ऐसे मामले हमारे समाज में कम नहीं, बल्कि रोज़ाना घटते हैं।

बलात्कार व यौनिक हिंसा समाज में फैले हुए हैं, लोग जानते भी हैं परन्तु इन मामलों को खुले-आम सब के सामने लाने से कतराते हैं। औरतें स्वयं चुप्पी साध लेती हैं, क्योंकि मान्यता है कि ऐसी घटनाओं से औरत की ही इज़्ज़त घटती है। परम्परा-अनुसार, उसकी "इज्ज़त लूट ली गई", यानी बलात्कार झेलने के बाद वो बे-इज़्ज़तदार हो गई।

1978 में हैदराबाद में रमीज़ा बी नामक गरीब महिला के साथ पुलिसवालों ने सामूहिक बलात्कार किया। रमीज़ा बी के पति ने बलात्कारियों के खिलाफ़ आवाज़ उठाई तो उसकी हत्या कर दी गई। कुछ कर्मठ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इस काण्ड को सब के सामने रखा। जनता काफ़ी उत्तेजित हुई। विख्यात है कि इस मुद्दे को लेकर 22,000 औरत-मर्द ने जलूस

निकाला था।

1979 में कर्नाटक, पंजाब, महाराष्ट्र, असम व बिहार में बलात्कार-विरोधी अभियान हुए। देश में यह ऐतिहासिक कदम था। क्योंकि जो मामले पर्दे के पीछे छुपाकर रखे गए थे, वो अब एक-एक कर के सभी के सामने आने लगे। 1980 में महाराष्ट्र में मथुरा नामक लड़की के साथ पुलिसकर्मियों द्वारा बलात्कार हुआ। मथुरा केवल सत्रह वर्ष की थीं। यह बलात्कार पुलिस स्टेशन में हुआ। महाराष्ट्र की उच्च न्यायालय ने बलात्कारियों को यह कहकर रिहा किया कि "क्योंकि मथुरा के कई प्रेमी हैं अतः वो एक चालू लड़की है"। नारीवादी संगठनों के लिए यह एक संघर्ष का विषय बन गया। देशभर से अनेक महिला संगठनों ने न्यायालय के फ़ैसले का विरोध किया। संगठनों का दावा था कि महिला के चरित्र पर प्रश्नचिन्ह लगाने का कोई औचित्य ही नहीं है।

इस काण्ड से जनित संघर्ष के दौरान हज़ारों-लाखों महिलाएँ आंदोलन से जुड़ीं। देशभर में धरने व जलसे निकले। बम्बई में 'फ़ोरम अगेंस्ट रेप' नामक संठगन स्थापित हुआ। दिल्ली में 'स्त्री संघर्ष', 'मानुषी' इत्यादि इस मुद्दे के साथ जुड़े। विश्वविद्यालयों से भी कई अध्यापक व छात्र-छात्राएँ इस मुद्दे पर एकत्रित हुए। दिल्ली विश्वविद्यालय के कानून विभाग के वरिष्ठ अध्यापक लौतिका सरकार व उपेंद्र बक्षी ने इस अभियान में एक खासी भूमिका निभाई।

इस विरोध के फलस्वरूप बलात्कार के अन्य मामले भी न्यायालयों तक पहुँचने लगे। बलात्कार-सम्बंधी कानून में भी कुछ संशोधन किये गए। इसमें मुख्य यह था कि यदि कोई औरत या लड़की बलात्कार का मामला दर्ज करती है, तो मुल्ज़िम को अपनी सफ़ाई देनी पड़ेगी--अपने को बेकसूर साबित करने का बोझ उस पर है। न की औरत पर बोझ रहे जुल्म साबित करने का।

1980 और 1990 दशकों में बलात्कार व यौनिक हिंसा के कई अजीबो-गरीब मामले सामने आते रहे। इन पर जगह-जगह पर महिला-कार्यकत्ताओं ने संघर्ष छेड़े।

कानपुर में 'महिला मंच' नामक संगठन ने पाली गाँव के ज़मींदार के कुकर्मो के विरोध में भारी अभियान छेड़ा। यह ज़मीदार लगातार निम्न-वर्गीय और गरीब ग्रामीण महिलाओं को बलात्कार का शिकार बना रहा था। निम्न-वर्गीय गरीब पुरुषों पर भी जुल्म ढा रहा था--मार-पीट, लूटपाट इत्यादि। जब महिला मंच तक खबर पहुँची तब मंच की कार्यकर्ताओं

ने जाँच पड़ताल की और लोगों की बातें सुनी। उन्हें यकीन हुआ कि ज़मीदार बर्बर किस्म से जुल्म ढा रहा है। अपनी जान हथेली पर रखकर इन महिला कार्यकर्ताओं ने कानूनी कार्यवाही शुरू की। कई धमकियाँ सहीं। राजनैतिक तौर पर भी पाली गाँव के ज़मीदार ने महिला मंच व गांव की गरीब जनता को प्रताड़ित किया। परन्तु आखिर इंसाफ मिला, ज़मीदार को जेल की कैद काटनी पड़ी और गरीब जनता ने चैन की सांस ली। इसके अलावा कानपुर शहर में महिला मंच ने विवाह के अंतरगत भयानक यौनिक हिंसा की एक वारदात पर्दाफ़ाश की। साधारण मध्यम-वर्गीय घराने की पढ़ी-लिखी लड़की को शादी के बाद पति के हाथों क्रूर हिंसा सहनी पड़ी। कई महीनों झेलने के बाद वो औरत महिला मंच के पास आई। शादी की आड़ में छिपकर भी ऐसे जुल्म होते हैं- यह भारतीय समाज मानना या देखना नहीं चाहता था। परन्तु इस मुद्दे को सभी के सामने लाया गया।

1990 दशक में राजस्थान की भँवरी बाई नामक सरकारी कार्यकर्ता के साथ सामूहिक बलात्कार का काण्ड हुआ। भँवरी बाई सरकार के 'महिला विकास कार्यक्रम' में साथिन की भूमिका निभाती थीं। अपने गाँव में अनेक कुरीतियों का विरोध करती थीं। जब बाल विवाह की एक घटना घटने को थी, तब भँवरी ने उसका विरोध किया। तब उस घराने के मर्दों ने बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर उसका बलात्कार किया। आखिर वे थे उच्च-वर्गीय, और भँवरी निम्न वर्ग की गरीब औरत!

इस काण्ड के बाद देशभर की नारी संगठनों को फिर एकजुट होना पड़ा। जयपुर में उच्च न्यायालय ने अपराधियों को यह कहकर रिहा कर दिया कि "भारतीय संस्कृति में ऐसा हो ही नहीं सकता"। राजस्थान में कई कार्यकर्ता व संगठनों ने एकजुट होकर 'महिला अत्याचार विरोधी मंच' का गठन किया। इस मंच के तहत भँवरी बाई का समर्थन करते हुए मामले के अनेक आयामों पर बहस हुई। भँवरी की हिम्मत पर सभी को गर्व था। सही लड़ाई लड़ने पर कितना झेलना पड़ता है, यह उनकी ज़िंदगी से उजागर होता है। लड़ाई को बीच मैदान में न छोड़कर वो बेमिसाल हिम्मत दिखा रही हैं।

नारी आंदोलन की छेड़ी बहस द्वारा यह स्थापित हुआ कि बलात्कार ऐसा मुद्दा है जो अमीर हो या गरीब किसी भी महिला की ज़िंदगी में हो सकता है। हालाँकि परिस्थितियाँ काफ़ी भिन्न रहती हैं, तब भी गरीब महिला व अमीर महिला इस मुद्दे पर एक हो जाती हैं। विश्वविद्यालयों में पढ़ती युवतियाँ लगातार छेड़खानी का शिकार होती आई हैं। 1980

दशक के दौरान दिल्ली विश्वविद्यालय में इस मुद्दे को लेकर खूब प्रदर्शन हुए थे। 1980 में होली खेलने के बहाने देशभर में प्रख्यात सेंट स्टीफ़ंस कॉलेज में कई कालेजों के छात्रों ने भयंकर छेड़खानी की। ऐसा मामला कभी फिर न हो, इस इच्छा व संकल्प से प्रेरित हज़ारों छात्राएँ व अध्यापिकाएं इस मुद्दे पर संगठित हुईं व विश्वविद्यालय के सोए हुई अफ़सरों को झकझोरा।

विश्वविद्यालयों में कुछ अध्यापक डिग्री व नम्बरों का खेल खेलते हुए छात्राओं को प्रताड़ित करते हैं--यह बात भी धीरे-धीरे सामने आने लगी है। छात्राओं ने खुले-आम गवाही दी है, या फिर आत्महत्या कर ली। कई छात्राएँ त्रस्त होकर पढ़ाई छोड़ने के लिए मजबूर हो जाती हैं।

यौनिक हिंसा की खिलाफ़त करते-करते महिलाओं को अहसास हुआ कि उनके अंदर कितना डर, कितनी हीन-भावना, ठूस दी गई है। लड़कियाँ व औरतें पुरुष-सत्ता से बेहद डरती हैं। बलात्कार तो सत्ता कायम रखने का सबसे ज़ोरदार और भयानक तरीका है। इसके डर से महिलाएँ रोज़ अनगिनित छोटे-बड़े ज़ुल्म व कष्ट सहती रहती हैं।

यही नहीं, आंदोलनकारियों को पता चला कि बलात्कार व यौनिक हिंसा छोटी बच्चियों के साथ भी हो रहा है। परिवार के अंदर, पिता-चाचा इत्यादि के हाथों हो रहा है। इक्का-दुक्का नहीं, काफ़ी मात्रा में हो रहा है। इन मुद्दों की गहराई में जाकर परत-दर-परत इंसाफ़ लाने के प्रयास शुरू हुए। ऐसे प्रयासों को सुनियोजित ढंग से करने के लिए 'साक्षी' व 'राही' नामक संगठन दिल्ली में गठित हुए। राजस्थान के 'महिला अत्याचार विरोधी चेतना मंच' ने भी ऐसे मामले उठाए हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पारिवारिक हिंसा व समाज और कार्यक्षेत्र में महिला के प्रति हिंसा--सब एक ही सूत्र में बंधे हैं। असल में एक मानसिकता है जिसके तहत पुरुष अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए कुछ भी करना उचित समझता है। शारीरिक बल का उपयोग करके महिलाओं को दबाए रखना बर्बर ज़रूर लगता हैं। परन्तु 'सभ्य' समाज में इस मानसिकता को मान्यता मिली हुई है। आज टी.वी., फ़िल्म वगैरह जन-प्रचार माध्यम औरत को यौनिक वस्तु के रूप में प्रस्तुत करना एक आम बात समझते हैं। औरत की इन्सानियत को कुचलते हुए उस पर सत्ता जमाने की होड़ आज भी लगी हुई है।

गौरतलब है कि महिला आंदोलन ने जब पहले इन मामलों को उठाने की कोशिश की तब

काफ़ी बुरा भला सुनने को मिला। समाज के ठेकेदार इन मामलों को सन्नाटे की चादर में ढांपे रहना चाह रहे थे। उदहारणत: जब 1981 में दिल्ली विश्वविद्यालय की कुछ कर्मठ छात्राओं ने दूरदर्शन के लिए 'यौनिक उत्पीड़न' पर एक कार्यक्रम बनाना चाहा, तब वहाँ के अफ़सरों ने बताया कि 'यौनिक उत्पीड़न' शब्द इस्तमाल नहीं कर सकते, क्योंकि 'यौन' शब्द वर्जित है। प्रसार माध्यम यह शब्द इस्तमाल नहीं कर सकते! अंतराल के बीस सालों में यह स्थिति बहुत बदल चुकी है। आज ये मामले रोज़ाना प्रचार माध्यमों द्वारा दिखाये और टटोले जा रहे हैं।

1980 दशक से ही छात्राओं ने अपनी सुरक्षा के लिए 'आत्म-रक्षा' या 'सैल्फ़-डिफ़ेंस' सीखना शुरू किया। जूडो, ताय कौंडो वगैरह सीखने से आत्म-बल का अहसास होता है। अपने को कमज़ोर नहीं, बल्कि शारीरिक रूप से अपनी बचाव करने के लिए औरत अपने को सक्षम समझने लगती है।

औरत और शिक्षा

जहां 1947 से 2000 के बीच, देशभर में सरकारी स्कूलों की श्रृंखला बना दी गई है, तब भी इन स्कूलों में कई क्षेत्रों में लड़कियाँ आज भी नहीं भेजी जा रहीं। खासकर गरीब घरों में लड़कियाँ घर के काम सम्भालती हैं, जब की माताएँ कमाई से संबंधित अनेक कार्यों में व्यस्त हो जाती हैं।

1990 दशक में कुछ खास अभियान चलाए गए जिनके द्वारा बच्चियों को स्कूल में लाने का प्रयास हो रहा है। परन्तु सरकार, गैर-सरकारी संस्था व विदेशी संस्थाओं द्वारा चलाए इन अभियानों द्वारा भी खास सफलता नज़र नहीं आ रही है।

इसका कारण सामजिक और आर्थिक ढांचे के साथ-साथ शिक्षा प्रदान करनेवाली संस्थाओं में भी खोजना होगा। आज की शिक्षा प्रणाली उथली व लोगों की ज़िंदगी से कटी हुई है। न लोंगों की भाषा में और न उनके संदर्भ को समझते हुए-- ऐसे स्कूल में आना कई बार फ़िज़ूल ही लगता है। देखा गया है कि गरीब से गरीब माँ-बाप भी चाह रहे हैं कि उनके बेटे व बेटियाँ पढ़े-लिखें। परन्तु स्कूल इस तरह के हैं जो लोगों की ज़रूरतों को नकार रहे हैं। गांव में बच्चे आमतौर पर भेड़ या गाय-भैंस चराना इत्यादि काम करते हैं और खेती से जुड़तें हैं। गांव और शहर सभी जगह बच्चियों घर में कई काम सीखती व निभाती हैं। इन भूमिकाओं को नकारना प्राय: अनुचित ही हैं। सही रास्ता तो होगा कि शिक्षा आम लोंगों

की ज़रूरतों को समझे, और अपने को उसी मुताबिक ढाल ले।

इस रास्ते पर कई गैर-सरकारी संगठन अग्रसर हैं। इनमें शामिल हैं 'निरंतर', 'संधान', 'मोबाइल क्रैश' इत्यादि। बच्चियों व महिलाओं के लिए सायं-कालीन कक्षाएँ, अनौपचारिक कक्षाएँ, व खास 'पढ़ाई शिविर' आयोजित किए गए हैं। ये कदम सार्थक हैं और काफ़ी हद तक सफल भी रहे हैं। आगामी वर्षो में महिला संस्थाएँ व अनेक सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाएँ ऐसे प्रयास करेंगीं, तब ही धीरे-धीरे लड़कियों व औरतों की साक्षरता व शिक्षा का स्तर ऊँचा हो सकता है।

मध्यम व उच्च वर्ग की महिलाओं ने काफ़ी मात्रा में स्कूली व उच्च शिक्षा ग्रहण की है। उल्लेखनीय है कि शिक्षा द्वारा उनकी उपलब्धियों व सोच में अंतर आया है।

औरत, धर्म और साम्प्रदायिकता

महिला आंदोलन के लिए धर्म व साम्प्रदायिकता से संबंधित प्रश्न आज ज्वलंत बन चुके हैं। शुरू से ही अनेक धर्म की महिलाएं आंदोलन के साथ जुड़ीं। परन्तु समाज में फैलती साम्प्रदायिकता के ज़हर ने औरतों को अछूता नहीं छोड़ा।

अलग-अलग धर्म की महिलाएं अलग-अलग 'निजी कानूनों' से बंधी हैं। हिन्दू, मुसलमान, सिख, इसाई, इत्यादि धर्मो को माननेवाले सम्प्रदायों में प्राय: शादी व परिवार-संबंधी कानून एक-दूसरे से भिन्न हैं।

महिला आंदोलन की साझी समझ है कि 'निजी कानून' उचित तरीके से नहीं बने हैं। प्रत्येक धर्म के पंडित-मौलवी इत्यादि ने पितृसत्तात्क ढांचों को मान्यता दिलवाई है। यही कारण है कि मुसलमान पुरुष चार तक बीवियाँ कर सकते हैं, या कैथोलिक दम्पत्ति तलाक ले ही नहीं सकते। महिला आंदोलन के लोकप्रिय गीतों द्वारा औरतों की मिली-जुली आवाज़ व मांगें उभरकर सामने आ जाती हैं--

''मंदिर मस्जिद गिरजाघर ने बांट दिया भगवान को

धरती बांटी, सागर बांटा, मत बांटों इन्सान को!...''

महिला कार्यकताएँ इस सोच को फैलने के लिए उत्सुक हैं। जगह-जगह पर साम्प्रदायिकता से उत्पन्न हिंसा देखने को मिली है। चाहे 1984 के दंगे हों जिनमें दिल्ली में ही सैकड़ों सिखों की निर्मम हत्या की गई, या 1992 के दंगे जहां मुम्बई में वही यमदूत नाचता हुआ मुसलमानों को मारता चला गया...। चाहे अहमदाबाद हो या मुरादाबाद, कर्नाटका, पंजाब या कश्मीर दिन प्रतिदिन साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाएं बढ़ती जा रही हैं। हालाँकि पुरुष इन दंगों में हमेशा अधिक सक्रिय होते हैं, तब भी औरतें कई बार उनका साथ देती हैं। दूसरी ओर, हत्याएँ भी अधिक पुरुषों की होती हैं, परन्तु फिर विधवा जीवन का भार औरत ही ढ़ोती है।

महिला आंदोलन ने साम्प्रदायिकता, व निजी कानून, के विषय पर अपनी सोच बनाने व फैलाने के लिए कई संगोष्ठियाँ व बैठकें आयोजित की हैं। इंदिरा जयसिंह जैसे नारीवादी वकील, व 'आवाज़-ऐ-निस्वान' 'अस्मिता' और 'ज्वाइंट फिमिन्स प्रोग्राम', जैसे नारीवादी संगठन, इन मुद्दों पर लगातार कार्यरत हैं।

पिछले कुछ वर्षो में साम्प्रदायिक तत्त्व खास औरत की छवि बनाने में लगे हुए हैं। हिन्दु साम्प्रदायिक तत्त्व 'सती प्रथा' जैसी भयानक प्रथा को मान्यता दिलाने का प्रयास कर रहे हैं। महिला आंदोलन की तरफ़ से सती प्रथा को पुनर्स्थापित करने के प्रयासों का जमकर विरोध हुआ है। 1980 दशक में राजस्थान की सती हुई रूप कुंवर की मृत्यु को लेकर विरोध ने ज़ोर पकड़ा। 1999 में उत्तर प्रदेश की चरण कौर ने जब अपने पति की चिता पे अपने को जला दिया, तब फिर यह मुद्दा ज़ोरदार तरीके से उठाया गया। सब के सामने आया, और परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएं भी स्पष्ट हो गई।

आदिवासी समाज में औरतों को 'डायन' बताकर जान से मारा जा रहा है। ऐसी विसंगतियों पर महिलाएँ उचित सवाल उठा रही हैं। अपने-अपने धर्म की गहराई में जाकर महिलाएँ धार्मिक मान्यताओं को स्वयं परिभाषित करने लगी हैं। रामायण, कुराण, बाइबल इत्यादि स्वयं पढ़कर, समझकर, वे महिला-विरोधी तत्त्वों को धर्म से अलग कर रही हैं। धर्म के मूल में आध्यात्मिकता की जड़ को टटोल रही हैं। धर्म के तथाकथित ठेकेदार यदि महिला-विरोधी मान्यताओं को बढ़ावा दे रहे हैं, तो औरतों उनके खिलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद करने की कोशिश में हैं।

औरत और स्वास्थ्य

खासकर गरीबी के चलते देशभर में महिलाओं का स्वास्थ्य चिंताजनक है। बच्चियों के प्रति लापरवही इतनी है कि प्राय: वे अपने भाइयों के मुकाबले कुपोषित पाई जाती हैं। खून की कमी (एनीमिया) आम बात है। अनेक संक्रमक रोग फैले हुए हैं, जो कमज़ोर व्यक्ति में

सबसे जल्दी घर कर लेते हैं। बचपन में ही शादी, सोलह सत्रह वर्ष पर गौना व माँ बन जाना बहुत आम बातें हैं। खासकर राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, व मध्यप्रदेश में कम उम्र माँओं की भारी तादाद है। प्रजनन-संबंधी रोग फैलने का माहौल बना हुआ है। एच.आई. वी. एड्स भी आज भारी मात्रा में महिलाओं तक फैल चुका है।

देश में औरतों के स्वास्थ्य की स्थिति भयानक है। हमारा मातृ-मृत्यु दर बहुत ऊंचा है। सरकारी स्वास्थ्य-सेवाएँ कोने-कोने तक फैल नहीं पाई और जहाँ फैली भी हैं वहाँ आम औरतों में भरोसा नहीं जगा पाई हैं। परम्परागत स्वास्थ्य की जानकारियाँ प्रायः दाई व बुजुर्ग तजुर्बेकार औरतों के हाथ में रहती थीं, परन्तु इन महिलाओं को मान्यता देने के बजाय सरकार इनकी जानकारियां नज़रंदाज कर रही है। जड़ी-बूटी व आयुर्वेदिक तरीकों को न मानकर, डाक्टरों व सरकारी स्वास्थ्य नीति बनानेवालों की आस्था केवल 'आधुनिक' दवाइयों व तकनीकों में है। परन्तु वे इन तकनीकों को सही तरह से लोगों तक नहीं पहुंचा पा रहे। अंजाम यह है कि 'आधुनिक' तकनीक अनुचित और खतरनाक तरीके से पहुंच गए हैं। बात-बात पर 'सुई' लगाना, हर छुटपुट मर्ज़ के लिए आसानी से उपलब्ध 'गोली' खा लेना, व भ्रूण के लिंग की जाँच करवा लेना: ये बातें प्रचलित हो गई हैं। लिंग-जाँच के बात, यदि लड़की है तो भ्रूण-हत्या कर देना, आम बात हो गई है। इसके साथ, हम ये भी देख रहे हैं कि कई इलाकों में प्रसव के उपरांत, अगर लड़की है तो उसका गला घोंट दिया जाता है। इसी सब की वजह से आज देश में पुरुषों की तुलना में औरतों की संख्या बहुत कम रह गई है। इन सभी मुद्दों की ओर महिला संस्थाएँ ध्यान खींच रही हैं। 'शोधिनी' द्वारा कई महिला संस्थाओं ने देश की उन स्वास्थ्य व जड़ी-बूटी वाली जानकारियों पर शोध किया, जो परम्परागत रूप से औरतों के हाथ में हैं। 'आदिति' नामक संस्था ने बिहार में बच्चियों की हत्या पर तथ्य पेश किये। और, ऐसी कई बच्चियों की जान बचाई जिन्हें उनके परिवारजनों ने जान से मार देना चाहा।

'मारी स्ओपृज' या 'परिवार स्वास्थ्य सेवा' जैसी संस्थाएँ औरतों के लिए उचित स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने में लगी हुई हैं: सही गर्भनिरोधक, गर्भ गिराना इत्यादि।

'सहारा' जैसी संस्थाएं एड्ज़ से पीड़ित व्यक्तियों की सही देखभाल करने व समाज में उनके प्रति समझ व मंजूरी जगाने का प्रयास कर रही हैं।

खतरनाक गर्भनिरोधकों के खिलाफ़ कई महिला संस्थाओं ने आवाज़ उठाई है। गर्भनिरोधकों

के प्रभाव के बारे में औरतों को पूरी जानकारी मिलनी चाहिए: यह बात सरकार ने मंजूर भी कर ली है। 'सूचना के अधिकार' के लिए राजस्थान के 'मजदूर किसान शक्ति संगठन' ने जो अभियान छेड़ा, उसमें भी इस तरह की मांग निहित है। परन्तु तब भी सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं का रवैया बदला नहीं है। मूलत: सरकार व अनेक विदेशी संस्थाएँ, जैसे कि 'यू.एन.एफ.पी.ए.', 'पौप्यूलेशन काउंसल', 'पौप्यूलेशन सर्विसिज इंटरनैशनल', इत्यादि का मानना है कि किसी भी तरह से जनसंख्या पर काबू पाना बहुन ज़रूरी है। कई संस्थाओं के लिए औरत का स्वास्थ्य इतना आवश्यक नहीं है जितना कि जनसंख्या का नियंत्रण। अत: बिना पूरी जाँच किए गर्भनिरोध का भार महिलाएँ ही ढो रही हैं। केरल में जनसंख्या नियंत्रित है, परन्तु गर्भनिरोध का सर्वप्रथम तरीका औरतों की नसबंदी है। इस पर सरकार ने अभी तक शोध ही नहीं किया। जबकि जाना-माना तथ्य है कि पुरुष की नसबंदी ज़्यादा आसान, और कम-से-कम नुकसान देनेवाली, होती है।

कुल मिलाकर महिला आंदोलन के लिए स्वास्थ्य एक बहुत भारी मुद्दा बना हुआ है, जिसपर तरह-तरह से काम हो रहा है।

औरत का अस्तित्व

एक ओर औरत को केवल यौनिक वस्तु का दर्जा देने का षड्यंत्र है, तो दूसरी ओर औरत के बहुमुखी अस्तित्व को दबाया जा रहा है। औरत अपने अस्तित्व के प्रश्न पर जागरूक हो गई हैं। महिला आंदोलनकारियों के लिखे व गाए जाने वाले अनेक गीतों में अपने अस्तित्व की खोज की प्रकिया नज़र आती है। आंदोलन के प्रिय नारों में भी यह खोज झलकती है।

जैसे-

''हम औरत हैं हम दासी नहीं,

हम औरत हैं हम देवी नहीं.....''

-इन पंक्तियों से झलकती है औरत की अपनी एक पहचान गढ़ने की इच्छा। पुराने मर्दों-द्वारा रचित परिभाषाओं को अपने से दूर धकेल देना ज़रूरी है। 'दासी' की स्थिति आज औरत को मंजूर नहीं, न ही 'देवी' बनने की खोखली आशा। आज औरत को इन्सान रहकर, इन्सान होते हुए, अपने अनेक पहलुओं को अपनी ही तरह विकसित और परिभाषित करने की आज़ादी चाहिए।

'अपनी आज़ादी के लिए' नामक पत्रिका, जो 1980 दशक में बिहार के कुछ नारीवादी कार्यकर्ताओ ने प्रकाशित की, से कुछ ऐसी ही खोज झलकती है। 'मानुषी', 'साम्य शक्ति', इत्यादि पत्रिकाओं में भी प्रयास है कि समाज के हर मुद्दे को महिलाओं के नज़रिये से परखा जाए। इसी तरह 'विमिन्स फ़ीचर सर्विस' कोशिश कर रही है कि महिलाएँ स्वयं अनेक मुद्दों पर लेख बनाएँ, और ये लेख मुख्यधारा के समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं में छापे जाएँ।

अपने अस्तित्व की खोज में आज महिलाएँ ऐतिहासिक खोज-बीन में भी लग गई हैं। 'इण्डियन एसोसियेशन फ़ौर विमिन्स स्टडीज़' नामक संस्था नारी बुद्धिजीवियों के लिए एक सार्थक मंच है। इस संस्था के सदस्यों ने नारीवादी दृष्टिकोण से इतिहास, समाज-शास्त्र व राजनीति-शास्त्र के कई मुद्दों को परखा है। दो या तीन साल बाद महिला संघर्षों व शोध से जुड़े विषयों पर बडा सेमीनार आयोजित किया जाता है। इससे शोधकर्ताओं को नई तरह से अपनी बातें रखने का अवसर मिलता है और नए-नए तथ्य सामने आते हैं।

विश्वविद्यालयों के स्तर पर भी 'विमिन्स स्टड़ीज' नामक एक नया विषय स्थापित हो गया है। देखा गया है कि मुख्यधारा के बौद्धिक विषयों में महिलाओं की असलियत पर ध्यान नहीं दिया गया था। प्रत्येक विषय, जैसे की इतिहास या समाज-शास्त्र, में पुरुषों के दृष्टिकोण व परिभाषाएँ ही समा चुकी हैं। इसको देखते हुए नारीवादियों ने अपने विचार से नए शोध किए हैं, व ऐसी परिभाषाएँ बनाई हैं जिनमें अधिक संतुलित सोच हो। तथ्यों को केवल पुरुषों के नज़रिये से न देखा जाए। बल्कि महिला-पुरुष सभी के नज़रिये को जगह मिले। 'विमिन्स स्टड़ीज' के तहत विषयों को पढ़ाने में नये-नये आयाम उजागर होने लगे हैं।

नारीवादी नज़रिये से लिखी पुस्तकों को छापने के लिए उवर्षी बुटालिया व रितु मेनन नामक महिलाओं ने 1980 दशक के दौरान एक विचित्र प्रकाशन शुरू किया। इसका नाम रखा 'काली फ़ौर विमिन'। इस के तहत दर्जनों ऐसी पुस्तके निकली हैं (जैसे वंदना शिवा की 'स्टेइंग अलाइव' इत्यादि) जो अपने क्षेत्र में एक नई सोच से अवगत कराती हैं। आज इस प्रकाशन ने अपने लिए एक जगह बना ली है, अपने उच्च-स्तरीय सम्पादन व लेखन के बल पर। बंगलोर में 'विमोचना' संगठन ने 'स्त्रीलेखा' नामक पुस्तकालय व नारीवादी पुस्तकों का विक्रय-केंद्र खोल रखा है। सी.एस. लक्ष्मी ने मुम्बई में औरतों से सम्बधित संग्रहालय (आरकाइव्स) खोला है।

महिलाएँ अपने अस्तित्व के लिए, अपनी असलियतों को टटोलते हुए, अपनी तरह से अपनी

बात व्यक्त करने के पथ पर आज अग्रसर हैं। आम महिलाओं की मानसिकता व परिस्थितियों को व्यक्त करने में कुछ लेखिकाओं ने पहल की है, जिसमें उल्लेखनीय हैं इस्मत चुगताई, कुर्रेतुलैन हैदर, कृष्णा सोबती, महादेवी वर्मा, अमृता प्रीतम, मन्नू भण्डारी, महाश्वेता देवी, आशापूर्ण देवी, प्रतिभा राय, कुसुम अंसल और एन. लक्ष्मी। 1990 दशक में गीतांजलीश्री व मैत्रियी पुष्पा ने अपने उपन्यासों द्वारा समकालीन महिलाओं की खोज व उनका अस्तित्व नए अंदाज़ से दर्शाया है। इनके अलावा देशभर में अनेक लेखिकाएँ, कवियित्रियाँ, चित्रकार, फ़िल्म निर्देशिका, नाटककार, संगीतकार इत्यादि अपनी चुनिंदा कला द्वारा अपनी व अन्य महिलाओं के मन व दिल की अंतरंग सच्चाइयों की अभिव्यक्ति कर रही हैं। महिला कलाकारों में अर्पणा कौर, नलिनी मालिनी, नीलिमा शेख, शीबा छाची, शोभा ब्रूटा इत्यादि जानी-मानी हैं। फिल्मों की दुनिया में नर्गिस, मीना कुमारी, मधुबाला और गीता दत्त से लेकर, आज शबाना आज़मी व नंदिता दास जैसी योग्य व लोकप्रिय अभिनेत्रियां शामिल हैं। कल्पना लाजमी, अपर्णा सेन व दीपा मेहता जैसी योग्य निर्देशिकाएँ भी आज हमारे बीच हैं। नाटक, गायन व नृत्य के क्षेत्रों में भी महिलाओं ने विचित्र योगदान दिया है। ज़ोहरा सहगल जैसी अभिनेत्री, त्रिपुरारी शर्मा व शीला भाटिया जैसे नाटककार, गंगूबाई हंगल व लता मंगेशकर जैसी गायक, सोनाल मान सिंह व यामिनी कृष्णमूर्ती जैसी नृत्यांगनाएँ-- इन सब ने अपने चुनिंदा क्षेत्र में कुछ नया ही कर दिखाया है।

लोक-संगीत व लोककला के क्षेत्र में तीजन बाई, गुलाब बाई, सीता देवी इत्यादि नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा लोक-कलाकारों में शामिल हैं हज़ारों-लाखों चीन्ही-अचीन्हीं अनामिकाएं।

औरत के 'नए अस्तिव' के संदर्भ में सन् 2000 में एक खास गाने का कैसेट निकला जो महिला आंदोलन के लिए एक नया और उचित कदम है। 'ब्रेकथ्रू' नामक संस्था ने 'मन के मंजीरे' नामक कैसेट में दिवालीबहन भील व रुकमा बाइ जैसी लोक कलाकारों के साथ शुभा मुद्गल जैसी शास्त्रीय गायक का मिला-जुली गायन पेश किया है। गाने सुन्दर हैं, और साथ में मकसद भी रखते हैं-- दहेज व हिंसा का विरोध, शिक्षा व सम्पत्ति के अधिकारों का पक्षपात। 'मन के मंजीरे' नामक गाना कुछ इस तरह नारी-मन की सचेत होती हुई मानसिकता को अभिव्यक्त करता है--

'मन के मंजीरे आज खनकने लगे
भूले थे कदम आज थिरकने लगे
अंग-अंग बाजे मृदंग सा, सुर मेरे जागे
साँस-साँस में, बाँस-बाँस में धुन काई साजे
गाए रे...
दिल ये गाने लगा है
मुझको आने लगा है खुद पे ही ऐतबार
बादल तक झूले मेरे पहुँचने लगे
आँखों के आगे गगन सिमटने लगे
गाल-गाल पे ताल-ताल दे, छू के हवाएँ
खेत-खेत ने रेत-रेत ने, फैला दी बाँहें
आई रे...
सिन्दूरी सुबह आई, धुलती जाए सियाही
रातों की रातों की
खोले जो दरवाजे तो देखा हर शै थी नहाई
उजली-उजली सी थी मेरी तन्हाई रे
बदली-बदली सी बदरी मेरे अंगना में थी छाई
वीरानी रानी बनके मेरे पास आई
अपनी नज़र से मैंने देखी दुनिया की रंगोली
मुझको बुलाने आई मौसम की टोली
खोली आंखों की खोली, मैंने पाई अपनी बोली
मुझमें ही रहती थी मेरी हमजोली रे
सुन लो...
अब न अकेली हूं मैं, अपनी सहेली हूं मैं
साथी हूं अपनी मैं
मन के मंजीरे आज खनकने लगे।'

पाँचवाँ अध्याय

इक्कीसवीं शताब्दी में मंज़िलें और चुनौतियाँ

नई सहस्त्राब्दी में कदम रखते हुए दुनियाभर में लोग अपनी स्थिति से निराश हैं। परन्तु आशा के बीज भी बो रहे है। **संकटो का दौर** गुज़रा नहीं, बल्कि गहराता चला जा रहा है। इस संदर्भ में भारतीय महिला आंदोलन अपने पथ पर बरकरार है। मंज़िलें दूर सही, रास्ता चुनौतीपूर्ण सही, परन्तु महिलाएँ संघर्ष के पथ पर डटी हुई हैं।

सम्भवतः भारतीय महिला आंदोलन के लिए सर्वप्रथम चुनौती वैचारिक है। दुनियाभर के संकटों को समझना, और इस समझ के आधार पर अपनी रणनीति बनाना। जिससे अपनी शक्तियाँ व्यर्थ न जाएँ, हस्तक्षेप सार्थक रहें।

दुनियाभर की आम औरत आज तमाम संकटों के बीचों-बीच स्थित है। गरीबी, बेराज़गारी और भुखमरी पहले से कम न होकर, अधिक बढ़ती गई हैं। घरेलू हिंसा व यौनिक उत्पीड़न भी घटने के बजाय, बढ़े हैं। कृषि व उद्योग में महिलाओं की भागेदारी अधिकतर निचले दर्जों पर ही है। वर्ग-व्यवस्था व जाति और रंगभेद कम नहीं हुए हैं। साम्प्रदायिकता, दकियानूसी विचारधाराएँ, आतंकवाद व कुदरती साधनों का नाश सभी एक सूत में बंधी भयंकर असलियत के अनेक पहलु हैं।

इस भारी संकटों के दौर में महिलाएँ अपनी-अपनी तरह से हस्तक्षेप कर रही हैं। पुराने संगठन कायम हैं। साथ में **नए संगठन** भी बनते जा रहे हैं। जैसे '**बीज बचाओं आंदोलन**', 'नवदान्या' इत्यादि जो कुदरती विविधता की संरक्षण के लिए समर्पित हैं। 'प्रगति' यानी की 'पंचायती राज एण्ड जैन्डर ट्रेनिंग इंस्टिट्यट', जो महिलाओं को पंचायती राज में सार्थक हस्तक्षेप करने के लिए सहायता दे रही है। 'निर्माण' और 'बायलांचो साद' जो गोआ में महिलाओं के लिए कार्यरत हैं। 'सैंटर फॉर विमिंस डिवेलपमेंट स्टडीज़' 'संहिता', 'स्पैरो'

इत्यादि संस्थाएँ महिलाओं के मुद्दों पर खोज व संग्रहण कर रही हैं। 'संगिनी' जैसी संस्था समलैंगिक महिलाओं के लिए आत्म अभिव्यक्ति की जगह बना रही है। मणिपुर में महिलाएँ आतंकवाद व हिंसा के खिलाफ, 'रात्रि की पहरेदारिणी' के रूप में उभरी हैं।

इसी तरह हर प्रांत में महिलाएँ हिंसा की खिलाफ़त इंसाफ़ और शांति के पक्ष में आज भी कार्यरत हैं। महिला समूह व संगठन अलग-अलग प्रांत व क्षेत्र में बसे हैं, और अनेक विचारधाराओं से सम्बंध रखते हैं। तब भी इन सभी की भागेदारी एक व्यापक 'महिला आंदोलन' में है - यह धारणा सभी के मन में कहीं न कहीं है। इसका अहसास रोज़मर्रा के कामों में भी होता है, और जब अनेक समूह-संगठन मिलकर बैठते हैं तब यह अहसास और भी तीव्र हो जाता है। अनेक मुद्दों पर सम्मिलित मोर्चे व सम्मेलन आयोजित होते हैं, जिनमें वामपंथी से लेकर स्वायत्त, गाँधीवादी से लेकर सरकारी महिला कार्यक्रमों से जुड़ी--विभिन्न महिलाएँ भाग लेती हैं। आपसी विचार-विमर्ष व नेटवर्क बनाने से एक-दूसरे के लिए समझ व सम्मान की भावना जागती है। इसके साथ-साथ, 1995 में 'नावो' यानी की 'नैश्नल अलायंस ऑफ विमिन्स ऑर्गनाइज़ेशन्ज' (महिला संस्थाओं का राष्ट्रीय सम्नवय) नामक संस्था गठित की गई, जिसमें देशभर से लगभग डेढ़ हज़ार महिला समूह शामिल हैं। 'नावो' के तहत आगामी वर्षों में महिला आंदोलन का समन्वय अधिक चुस्ती से हो पाएगा, यह आशा की जा सकती है।

अनेक विचारधाराओं के बीच सेतु बांधने का काम अनिवार्य है, और इसके लिए असाधारण समझ की आवश्यकता है। व्यवहारिक व वैचारिक दोनो स्तरों पर अनेक समूहों व महिलाओं के बीच सामन्जस्य बैठाना जितना जरूरी है, उतना ही कठिन भी।

महिला आंदोलन की (आंशिक) सफलता का एक अंजाम यह है कि सत्ताधारी तत्त्व भी जगह-जगह पर आंदोलन की भाषा बोलने लगे हैं, और इसकी मांगें अपनाने लगे हैं। परन्तु यह 'अपनाना' सही कहाँ, खोखला कहाँ? - यह पता लगाना ज़रूरी है।

सरकार ने महिला आंदोलन की मांगों को अपनाने का प्रयास किया है, परन्तु काफ़ी हद तक यह ढोंग साबित हुआ। इन्हीं मांगों को तोड़ा-मरोड़ा, विकृत कर डाला। 'महिला विकास' व 'महिला सशक्तीकरण' के नाम पर महिलाओं को समकालीन ढांचे में धकेलने का भी प्रयास रहा। राजस्थान के 'महिला विकास कार्यक्रम' में समर्पित महिलाएँ जुड़ीं, गाँव-गाँव में महिला समूह बने। परन्तु जैसे ही ये समूह अपनी शक्ति पहचानने लगे, जुझारू होकर

प्रश्न उठाने लगे, वैसे वैसे इन्हें दबा दिया गया।

महिलाएँ स्वयं अपनी आज़ादी परिभाषित करें- ये सरकार को मंजूर नहीं। इसलिए विडम्बना और द्वंद्व बने रहते हैं। कई संगठन सरकार के साथ जुड़कर कार्यक्रम चलाते हैं, पर अंतत: कहीं-न-कहीं कटु अनुभव झेलना पड़ता है।

दूसरी ओर सरकार के तहत 'नैशनल कमीशन फ़ॉर विमिन' यानी 'राष्ट्रीय महिला आयोग' गठित हुआ है। एन.सी.डब्ल्यु. कई किस्सों को सुलझाने व उत्पीड़ित महिलाओं को इंसाफ़ दिलाने में लगा हुआ है। दहेज प्रथा, विधवाओं की दुदर्शा, यौनिक हिंसा आदि मुद्दों पर कार्यरत है।

महिला आंदोलन को चाहिए कि जहाँ सम्भव हो, वहाँ उचित मंज़िल हासिल करने हेतु सरकारी ढांचे को इस्तेमाल किया जाये। परन्तु जहाँ सरकार स्वयं बेइंसाफी करे, वहाँ दबने के बजाय, बेइंसाफी के खिलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद करे।

महिला संस्थाओं व संगठनों के **आर्थिक सहयोग** का प्रश्न जटिल है। ज़ाहिर है कि संस्था या संगठन चलाने के लिए धन-राशि आवश्यक है। शुरूआती दौर में अनेक सदस्यों के योगदान से काम चल सकता है। परन्तु लम्बे अरसे के लिए यह सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक इन्सान को रोज़मर्रा की ज़िंदगी के लिए रोज़ी-रोटी की ज़रूरत तो है ही। संस्था-संगठन के रोज़ाना के कार्यों के लिए भी खर्चा चाहिए। अपनी जेब से कुछ एक व्यक्ति खर्च कर सकते हैं, पर ज़ाहिर है कि वे केवल उच्च वर्ग से सम्बंध रखते होंगे। आम औरत रोज़ी-रोटी कमाती है, इसलिए यदि वो दिनभर महिला आंदोलनों के कामों से जुड़ जाती हो, तो उसे उचित आर्थिक मानदेय मिलना आवश्यक है।

गांधीवादी व समाजवादी सोच से जनित संघर्षों में 'एक मुट्ठी अनाज' का योगदान, व 'मित्र मण्डली' द्वारा आर्थिक सहयोग, आधार होते थे। परन्तु आज यह नमुनकिन हो चला है। गांधीवादी संस्थाएँ भी सरकार, या अन्य 'देने वालों' से सहायता लेने के लिए मजबूर हैं।

महिला संस्थाओं में से कुछ हैं जो विदेशी स्रोत से धन नहीं लेते। परन्तु अधिकांश बड़ी संस्थाएँ आज विदेशी स्रोत से धन ले रही हैं। महिला नेत्रियाँ व कार्यकर्ताएँ बताती हैं कि वे ऐसी विदेशी संस्थाओं से धन लेना मंजूर करती हैं जो उनकी विचारधारा व सोच की इज़्ज़त करते हों। चाहे 'आक्सफैम' हो या 'हीवौस', 'सीडा' या 'यूनीसेफ़' ऐसी दर्जनों विदेशी या अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ आज भारत के महिला आंदोलन की आर्थिक सहायता कर

रही हैं।

क्या ये संस्थाएँ हर हाल में हमारी मित्र हैं? आंदोलन से जुड़ी भारतीय महिलाओं को लगता है कि "नहीं। इन संस्थाओं की अपनी सोच, व अपनी ज़रूरतें हैं। हमारी अपनी सोच व ज़रूरतें हैं। परन्तु जहाँ तक मेल हो सकता है, वहाँ हम साथ चलेंगे। उसके आगे, नहीं।"

अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं या सरकार से धन सहयोग लेने में लाभ तो है। परन्तु साथ में खतरा भी है। जो संस्था या महिलाएँ अलग या अधिक क्रांतिकारी सोच से जुड़ी हैं। उनके लिए आर्थिक सहायता प्रायः मुसीबत ही बना रहता है। ज़मीन से जुड़ी महिलाएँ कई बार उस भाषा में अपने काम को नहीं ढाल पातीं जिस भाषा को बड़ी-बड़ी संस्था या सरकार चाहती-समझती है। दूसरी ओर, सैकड़ों ऐसी संस्थाएँ आज बन गई हैं जो केवल पैसे के लिए बनी हैं--जिनका आंदोलन व ज़मीन के काम से कोई सम्बंध ही नहीं है। इससे आंदोलन गहराने के बजाय, अंतरद्वंदो में फँसता चला जाएगा--यह खतरा है।

भूमण्डलीकरण के दौर में ये द्वंद्व बढ़ते ही जाएँगे। दूध का दूध, पानी का पानी, करना असम्भव है। परन्तु इसी मंथन से कई धाराएँ निकलती जाएँगी, और अपनी-अपनी तरह से बहेंगी। भूण्डलीकरण के चलते राष्ट्रों के बीच के फ़ासले कम होते दिख रहे हैं--कम से कम सम्भ्रांत वर्ग के लिए। पूंजीवादी व्यवस्था व उपनिवेशवाद दुनिया के स्तर पर जाल बिछाते ही चले जा रहे हैं। जिससे गरीब जनता की गरीबी बढ़ रही है, और अमीरों की अमीरी। रोज़मर्रा की ज़रूरतें जुटाना जहाँ एक ओर अधिक जोखिमपूर्ण है, वहीं दूसरी ओर बाज़ारों में ऐशो-आराम की वस्तुएँ भर गई हैं।

इस संदर्भ में महिला आंदोलन को अपनी मंज़िलें तय कर लेनी हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का हिस्सा बनी महिलाएँ उच्च वर्ग की हैं तो कई लाभ बटोर सकती हैं। निम्न वर्ग की हैं तो हाशिए पे ही रहेंगी। ज़ाहिर है कि मौजूदा 'विकास' की परिभाषा पूंजीवाद पर आधारित है, और इससे आम जनता को लाभ होगा यह सम्भव नहीं। परन्तु समाजवाद और मार्क्सवाद के सपने भी आज लगभग धूल में मिल चुके हैं। आम श्रमिक से किए गए अनेक वादे टूट चुके हैं। अतः दुनियाभर के स्तर पे ज़रूरत है ज़मीन से जुड़ी सृजनात्मक नए सोच की।

'नारीवाद' के तहत भी इन्सान ने कई सपने बुने हैं, वादे किये हैं। लिंगभेद, वर्ग, जाति व अन्य विषमताओं को जड़ से निकाल फेंकने का सपना देखा है। प्रेम, सहृदयता व इंसाफ़ पर

आधारित मानव समाज की संरचना का वादा किया है। ये सपने वादे पूरे नहीं हुए हैं। बल्कि आज भी चुनौती के रूप में हमारे सामने खड़े हैं। महिला आंदोलन की अपनी गलतियाँ रही हैं। आंदोलनकारियों ने ठोकरें भी खाई हैं, हार व जीत दोनो देखी हैं। इस सब से सीखते हुए, यदि हमारा महिला आंदोलन आज भी **नई दिशाओं व मंज़िलों की खोज** में डटा रहे, तो आशा है कि सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए यह पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो।

श्रम के क्षेत्र में मार्क्सवादियों और समाजवादियों से जुड़कर, महिलाओं के लिए ज़रूरी है कि खास 'महिला श्रम' के मुद्दों पर कार्यरत रहें। घरेलू काम को मान्यता मिले। खेती-बाड़ी से सम्बंधित अनेकानेक क्षमताओं को मान्यता मिले। काम के लिए उचित दाम मिले। सम्पत्ति पर महिलाओं को अपना हक मिले। जहाँ उचित हो, वहाँ निजी सम्पत्ति से सामुदायिक सम्पत्ति की ओर कदम बढ़ें।

धर्म के क्षेत्र में भी महिलाएँ नए रास्ते खोज रही हैं। आध्यात्मिक पक्ष--जिसमें अपने से बड़ी शक्तिओं से हम अपनी निजी शक्ति जोड़ सकें-- में महिलाएँ रुचि व्यक्त कर रही हैं। मौलवी-पण्डितों के फेर में न पड़कर, अपनी आध्यात्मिकता परिभाषित करने में लगी हैं। जिसमें 'मैं' भी सशक्त हो जाए फ़ैसले भी मेरे हाथ में रहें, और समुदाय और समाज के लिए भी प्रेरणा-स्रोत बन पाएँ। महिला आंदोलन इन सभी मामलों पर गौर करने लगा है-- 'निजी' मामले, जो दूसरे छोर पर 'सभी' के 'निज' से सम्बंध रखते हैं।

संस्कृति और मूल्य के प्रश्न हमारे आंदोलन के लिए अति-आवश्यक होते जा रहे हैं। 'भारतीय मूल्यों', 'भारतीय संस्कृति' की परिभाषा हम स्वयं कर सकती हैं। महिलाएँ फ़ैसले ले सकती हैं, अपनी तरह से तरज़मा कर सकती हैं। सत्ताधारी पुरुष व दल महिलाओं को कई ढांचों में धकलते आए हैं, और आज भी धकेल रहे हैं। परन्तु महिलाएँ मंज़ूर नहीं कर रहीं, प्रश्न उठा रही हैं। कौन से कपड़े पहनें, कौन-सी फ़िल्में बनाएँ, किससे और कैसे रिश्ते बनाएँ, बच्चों को कैसे पालें--ऐसे अनेकानेक प्रश्नों पर महिलाएँ अपना मत व्यक्त कर रही हैं। अपनी तरह से जीने का हक मांग रही हैं। नहीं मिल रहा तो संघर्ष करके हासिल कर रही हैं। इसी मंथन से नए-नए रास्ते, बेहतर मूल्य व संस्कृति गढ़ी जा रही हैं।

औरतें ऐतिहासिक तौर से मानवीय रिश्तों को बहुत मान्यता देती आई हैं। 'बच्चे' को 'इन्सान' कैसे बनाया जाए- यह बेहद मूल्वान जानकारी है उनके पास। इनको आधार

बनाकर मानव जाति के लिए उचित मूल्य गढ़े जा रहे हैं। पुरुष भी 'इन्सानियत' के ज़्यादा नज़दीक आएं, इसके लिए आवश्यक है कि उनकी 'नरम' भावनाओं को विकसित होने का मौका मिले। घर के कामों में वे भी क्षमता हासिल करें। दूसरी ओर, महिलाओं के सही विकास के लिए ज़रूरी है कि घरेलू ज़िम्मेदारियों व जीवनवादी मूल्यों के साथ-साथ वे अपनी निजी आज़ादी पर भी गौर करें।

लिंग-आधारित श्रम-विभाजन, लिंग आधारित व्यक्तित्व और मूल्यों को पीछे छोड़कर, मानवतावादी और जीवनवादी मूल्यों की ओर बढ़ना है। यह बदलाव एक दिन या एक साल में होने वाला नहीं है। परन्तु इस पर डटे रहें, तो रोज़ एक छोटी-सी जीत हासिल हो जाती है। धीरे-धीरे छोटी-छोटी जीत एक बड़े परिवर्तन में रूपांतरित हो सकती है।

औरत-मर्द विषमता कई तरीकों से उत्पन्न होती ही जा रही है। निजी जीवन व रिश्तों में यह विषमता कुछ अधिक कष्टदायी होती है। आज परिवार की इकाई में शायद वो स्थायित्व नहीं, जो कभी था--जो औरत के दंबते रहने पर आधारित था। जब औरत दबने से इन्कार कर देती है, तो देखा जा रहा है कि शादी की संस्था में गरही दरारें पड़ सकती हैं। आज काफ़ी मात्रा में औरतें 'एकल' रह रही हैं-- शादी किए बगैर, या फिर शादी के बाद तलाकशुदा या अलग होकर। ज़ाहिर है कि नए संदभों में महिलाओं की क्षमताएँ बढ़ेंगी। नई चेतना की गंगा बहती रहेगी, और बहती रहनी चाहिए। अत: मर्दों को भी अपनी उम्मीदों व तरीकों को बदलना होगा। औरतों को दबाकर जीने की आदत छोड़नी होगी!

इन्सानी रिश्तों में कुछ नया, जो पैदा होना चाहिए, धीरे-धीरे पैदा होने लगा है। रिश्ते जो दोस्ती और प्रेम पे आधारित हैं न कि बेइंसाफ़ी और ज़ोर पर, ऐसे रिश्तों की खोज नई पीढ़ी कर रही है। बच्चों का सही लालन-पालन हो। साथ में महिला-पुरुष कोई भी अपनी हर इच्छा कुरबान करने के लिए मजबूर न हो, इस मंजिल की ओर हमारा समाज अब सचेत होने लगा है।

महिला आंदोलन ने कोशिश की है आपसी रिश्तों में ईमानदारी, वर्तालाप, खुलेपन और लचीलेपन पर ध्यान देने की। यह प्रश्न महिला-महिला के आपसी रिश्तों में भी महत्त्व रखता है। महिलाओं को एक-दूसरे.से अलग रखने के लिए कई विरोधाभास बीच में आ जाते हैं। 'औरत-औरत की दुश्मन है' वाली मान्यता के तहत औरतों को एक-दूसरे की दुश्मन बना ही दिया जाता है। उदाहरणत: सामान्य पितृसत्तात्मक परिवार में सास-बहु के

बीच क्लेश का माहौल बन जाता है। मर्द की सत्ता के चलते सत्ता -हीन व्यक्ति बिल्ली -कुत्ते की तरह आपस में भिड़ भी जाते हैं। कदापि महिला समूहों मे भी इस स्तर के बेमानी झगड़े पनप जाते हैं। सम्भवत: इन झगड़ों व क्लेश के कारण आंदोलन को बहुत नुकसान पहुँच चुका है।

असल में महिला आंदोलन के सामने ये एक बहुत बड़ी चुनौती है, कि इन्सानी रिश्तों को जड़ से कैसे सींचा जाए। आंदोलन की संगठनों और संस्थाओं में जुटी महिलाओं के लिए यह चुनौती जीवन-मरण की चुनौती है। यदि आंदोलन के तहत रिश्तों में बेइमानी व बेइंसाफ़ बने रहे, तो आंदोलन में खास दम या मायना नहीं रह जाएगा।

जाति, वर्ग व लिंग के आपसी रिश्तों को जड़ से टटोलकर, इमानदारी से इनके पार जाने का प्रयास ज़ारी रखना होगा। औरतों के बीच फ़रक रहेंगे, और रहने भी चाहिएँ। परन्तु ये फ़रक जाति-वर्ग-रंग पर आधारित बेइंसाफ़ियाँ और कुप्रथाएँ नहीं होने चाहिएँ। ये फ़रक शोषण व उत्पीड़न से सम्बंधित नहीं होने चाहिए। बल्कि सहज स्वाभाविक प्राकृतिक अंतर आपसी रिश्तों में अधिक जान लाएँ, विविधता का मौज लूट सके हर इन्सान: मंज़िल कुछ ऐसी होगी।

भारतीय महिला आंदोलन की लम्बी यात्रा आज भी अपने **मंज़िलों से दूर** ही है - यह स्पष्ट है। परन्तु यात्री डटे हुए हैं। रास्ते में साथी हैं, तो डाकू-गुण्डे-दुश्मन भी। सदियों पुरानी इस यात्रा में पड़ाव कई आए हैं। आज एक पड़ाव पर मिलकर हम कुछ पल बैठे, कुछ बतिया लिए। परन्तु यात्रा तो मीलों-मील लम्बी, अभी हमारे सामने है। मंज़िलें कभी कोहरे में छिपी रहती हैं, क्षणिक धूप की किरणों से चमकती हैं, तो पहचान में आ जाती हैं। असल में मंज़िलें भी अपनी तरह से, अपनी गति से बदलती रहती हैं। संदर्भ बदलते हैं, समझ विकसित होती है, नई सम्भावनाएँ सामने आ जाती हैं।

अत: आज यह तय कर पाना किसी के बस में नहीं है कि आखिरी पड़ाव क्या होगा। परन्तु औरत के हित में काम करें, औरत के हक में काम करें, तो तय है कि नए क्षितिज आसमान में नज़र आते रहेंगे। अपने दृष्टिकोण को व्यापक, और व्यापक बनाने की ज़रूरत है। समझ को और गहरी, नज़र को और पैनी, और दिल को और भी संवेदनशील।

महिला आंदोलन अधिकधिक अपनी जड़ें मज़बूत करेगा, आम औरत की क्षमताओं और शक्तिओं को मान्यता देकर। मिले-जुल अनुभव और अनुभव पर आधारित ज्ञान, द्वारा

सही दिशाएँ इजाद होंगी। महिलाएँ आपस में इमानदार रहें व अपनी कदर करती रहें, तो ज्ञान की कुंजी खुलती रहेगी। औरतें अपनी आवाज़ में बोलें, चीखें, गायें, वक्तव्य दें, लिखें. ..। अपनी शक्ति विकसित करें, अपनी आज़ादी व प्रेम की खोज में, पूर्णता की खोज में, डटी रहें।

आज भारतीय महिला आंदोलन के सामने ये तमाम चनुौतियाँ हैं। गहराई, चौड़ाई, ऊँचाई तक पहुँचने की चुनौतियाँ। अपने लिए , देश, दुनिया व सम्पूर्ण सृष्टि के लिए।



नुक्कड नाटक, महिला मंच, कानपुर

छठा अध्याय

अपने गीत, अपनी बातें...

आठ मार्च का जश्न!
पहुँचते हैं तो गाने में शामिल हो जाते हैं--
''तोड़-तोड़ के बंधनों को,
देखो बहनें आती हैं,
ओ देखो लोगों,
देखो बहनें आती हैं,
आयेंगी, जुल्म मिटायेगी,
वो तो नया ज़माना लाएँगी।
तारीकी को तोड़ेंगी,
वो खामोशी को तोड़ेंगी,
हाँ मेरी बहनें अब खामोशी को तोड़ेंगी,
हाँ मेरी बहनें अब खामोशी को तोड़ेंगी।
मोहताजी और डर को
वो मिलकर पीछे छोड़ेंगी,
हाँ मेरी बहनें अब डर को पीछे छोड़ेंगी।
निडर, आज़ाद हो जाएँगी,
अब वो सिसक-सिसक के न रोयेंगी।
तोड़-तोड़ के बंधनों को
देखो बहनें आती हैं...
मिलकर लड़ती जायेंगी,
वो आगे बढ़ती जाएँगी।
नाचेंगी और गायेंगी,

वो फ़नकारी दिखलाएँगी,
हाँ मेरी बहनें, अब मिलकर खुशी मनायेंगी।
गया ज़माना पिटने का जी,
अब गया ज़माना मिटने का,
तोड़ तोड़ के बंधनों को......"।

इसकी सशक्त, झूमती धुन के बाद दूसरे कोने से जयंती ने एकदम अलग, कव्वाली की, धुन पकड़ी। धीरे-धीरे सभी इसे गाने लगे। कैसा अनोखा है यह गीत--हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी महिलाओं द्वारा एक कार्यशाला में रचित-

"दरिया की कसम मौजों की कसम
ये ताना-बाना बदलेगा।
तू खुद को बदल, तू खुद को बदल,
तब ही तो ज़माना बदलेगा।
तू चुप रहकर जो सहती रही,
तो क्यूँ ये ज़माना बदला है?
हाँ जी बदला है, ओ जी......
तू बोलेगी, मुँह खोलेगी,
तब ही तो ज़माना बदलेगा।
दस्तूर पुराने सदियों के,
ये आये कहाँ से क्यों आये?
हाँ जी क्यों आये, ओ जी......
कुछ तो सोचो, कुछ तो समझो,
ये क्यों तुमने हैं अपनाये?
ये पर्दा तुम्हारा कैसा है,
क्या ये मज़हब का हिस्सा है?
हाँ जी हिस्सा है, ओ जी......
कैसे मज़हब, किसका पर्दा,
ये सब मर्दो का किस्सा है।
मशरिक से उठो, मग़ारिब से उठो,

मंदिर से उठो, मस्जिद से उठो,
उत्तर से उठो, दक्षिण से उठो,
गाँवो से उठो, शहरों से उठो,
हाँ जी बदलेगा, ओ जी......
दरिया की कसम मौजों की कसम......"

हिला देने वाले इस गीत के बाद एक सन्नाटा छा गया। सैकड़ों हज़ारों महिलाएँ एकत्रित थीं, परन्तु सबके दिल को छू लिया था प्रेरणा-गीत के शब्दों ने। तभी सन्नाटे से ही आवाज़ आइ--धीमी, ज़ोर पकड़ते हुए--मुन्नी देवी की आवाज़। गीत की एक पंक्ति गातीं, फिर दोहरातीं, जिससे सब शामिल हो पाएँ।

"ऐसी ही बरखा में हमरी तोड़ी रे झोपड़िया
हे देख - देख मोह सोचन दे, सोचन दे
थर-थर हमरे बालक काँपे
सूखे नहीं तन पर एक भी कपड़ा
हे देख-देख मोहे सोचन दे - सोचन दे
ऐसी ही....
हमने तो सोचा हमें ज़मीन मिलेगी
स्कूल होंगे पक्की सड़क बनेंगी
हे आँख खुली हम सड़क पर पड़े
री सपने देखन दे - देखन दे
ऐसी ही.....
हमरे जिया में बहना पढ़ने की आये
भैया हमारी मज़दूरी पर जाये
दिन भर छोटे भैया को खिलाऊँ
हे स्कूल के सपने मोह देखन दे-देखन दे
ऐसी ही........."

इस गीत की कोमल, हृदयभेदी धुन समाप्त हुई तो शबनम आपा ने अपना दिल खोलकर रख दिया। बोलीं-"क्या बताएँ कैसे कैसे दिन हमने काटे हैं। यहाँ तो अपनी दो बात रखने का

मौका मिलता है। अपनी बहनों के बीच। परन्तु बाहर की दुनिया में कौन समझता है? जहाँ देखो लूट-खसोट। मार-धाड़। बिटियों पर बलात्कार!... झोपड़ियाँ पानी में नाश हो जाती हैं। बाढ़ आती है तो हम सड़क पर, बिना किसी चीज़ के। कमाई आज है, तो कल गायब। हारी-बीमारी ने तो मार डाला है। क्या ज़माना रह गया है ये। हाँ बहनों के बीच बैठकर कुछ बात कर लेते हैं, दो बात सीख जाते हैं। महिला समिति के अंतरगत हम बचत कर लेते हैं। अभी हमारी झोपड़ी ढै गई थी, तो बचत योजना ने ही हमें बचाये रखा। किसी तरह टूटी-फूटी लकड़ी और झाड़-फूँस व पोलीथीन से बना लिया फिर से अपना घर। पर गरीब औरत के लिए बहुत मुश्किल है। आलू प्याज़ का दाम बढ़ रहा है, तिसपर दारू का प्रकोप....। मैं किसी तरह ज़रदोजी का काम करके, बेल बूटियाँ सलमा सितारे टाँककर, गुज़ारा चला रही हूँ.....।''

ललिता बताने लगीं अपनी बात। ''गाँव से आये थे तो सोचा था शहर में खुशहाल रहेंगे। परन्तु यहाँ तो जितना कमाओ, उससे सौ गुना खर्च कर दो। हवा खराब, पानी खराब। खाने की सामग्री में मिलावट। जब देखो, डाक्टरों के पास भागना। इस सब को देखते हुए हमने 'नारी सेहत समितियाँ' बनाई हैं। इससे हम अपने हाथ की ताकत पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। दादी-नानी के घरेलू नुस्खे याद कर रहे हैं। लौंग-सोंठ-तुल्सीपत्ता-गुड़ का फिर से सेवन शुरू कर रहे हैं। सदाबहार जैसे पौधों के गुणों को पहचानकर फिर से जड़ी-बूटियों पर आ गये हैं। खुद हम जड़ी-बूटियों से दवाई बनाने लगी हैं। और, सही खान-पान पर शोध व चर्चा जारी की है। डबलरोटी, चीनी, सफ़ेद आटा क्यों प्रचलित हो चले हैं? - जब कि ये शरीर को नुकसान पहुँचाते हैं। क्यों बाजरे और मक्के की रोटी नहीं खाते अब, गुड़ और शक्कर नहीं इस्तेमाल करते? कौन कमा रहा है मुनाफ़े? किसने हमारे देश की खेती का रूप-रंग ही बदल डाला? जंगल काट डाले? इन सभी मुद्दों की परत तक जा रही हैं हम।''

तब हरजिंदर कौर बोलीं- ''मैं परम्परा को बकवास मानती थी। मेरी पढ़ाई-लिखाई ने मुझे यही तो सिखा दिया था। परम्परा को छोड़कर, आधुनिकता की ओर दौड़ना...। पर अब मुझे समझ आ रहा है कि परम्परा को पूरी तरह से नकारना खरतरनाक है। अपनी जड़ें तो वहीं हैं। उनमें सड़ी-गली बातों को पहचानकर निकाल देना होगा। परन्तु सुन्दर संस्कारों को बचाये रखना भी अपने में एक संघर्ष है। आधुनिकता की आंधी में हम अपना अस्तित्व खो बैठेंगे। और उसकी जगह पर एक खोखली व्यक्तिगत दौड़ रह जायेगी। मैं तो ये भी मानती

हूँ कि पुराने धर्मों के आडम्बर छोड़ दिये जाएँ, परन्तु आध्यात्मिक विश्वास जीवित रखा जाये। तभी बनेगी संतुलित नारी, संतुलित इंसान!''

मेरी गौर से हरजिंदर की बातें सुन रहीं थीं। बोलीं-''मुझे लगता है कि औरतें एकदम नई तरह से अपने लक्ष्य पारिभाषित कर रही हैं। दुनिया-परिवार छोड़कर मोक्ष के रास्ते पर निकल जाना नही, बल्कि इसी दुनिया में रहकर, अपने निजी रिश्तों में जीकर, अपने समाज को कुछ देकर, ही औरत अपनी आत्मा पा लेती है।.... मैं बरसों से दहेज-विरोधी मोर्चों में निकलती आई हूँ । बलात्कार का विरोध कर रही हूँ, 'काउसलिंग' करती हूँ। मेरी समझ में इन्सान के अनेक पहलु होते हैं-शारिरिक, बौद्धिक, सामाजिक। इन सभी को विकसित करके ही हम सम्पूर्ण बनती हैं।''

नंदिता राजनीति पर ध्यान खींचते हुए बोलीं- ''अपनी क्षमताओं और शक्तियों की समझ हम बनाने लगीं हैं। अब हम अपने को कमज़ोर या अबला नहीं मानतीं। परन्तु प्रश्न है कि जब हर स्तर पर हमें दबाया-कुचला-धमकाया जाता है, तब हम कैसे जवाब दें? एकजुट होकर महिलाओं की पहचान हो, तभी ये सम्भव है। मैं सोचती हूँ कि हमें मर्दों की पार्टियों में प्रतिनिधित्व खोजने के बजाय अपनी अलग एक पार्टी का गठन कर लेना चाहिए।''

फ़िरोज़ा ने बताया-- ''हमारी बस्ती में हम औरतों की बहुत ज़बरदस्त पहचात बन गई है। चार-पाँच साल से हम बस्ती के लिए 'महिला पंचायत' चला रहे हैं। लोग अपने आपसी लड़ाई के मामले हमारे पास लाते हैं। हम इन मामलों को सुलझाते हैं। हिंसा, तलाक,बलात्कार, सम्पत्ति इत्यादि सैंकड़ों केस हम सुलझा चुकी हैं। कानून की टेनिंग मिलती रहती हैं। हम समाज का पक्ष, नारी का पक्ष व कानून का पक्ष, सभी की ओर से सोचकर फ़ैसले देते हैं। कोर्ट-कचहरी में भागने के बजाय अधिकांश लोग अब हमारी महिला पंचायत में आते हैं।''

.....कई और बातें हुईं। पूरा, लम्बा दिन था वो : खूब सार्थक गुज़रे वो घंटे। एकल औरतों के खास मुद्दे.... दिमागी तौर से बीमार महिलाओं के खास मुद्दे.... जिस्म बेचकर जीने वाली 'सैक्स वर्कस' के खास मुद्दे.... सब सामने आए। आर्थिक भूमण्डलीकरण के चलते महिलाओं की दुर्दशा के अनेक पहलु सबके समक्ष रखे गये। नुक्कड़ नाटक हुए। और अंत में, एक आखिरी गीत हुआ-

''धीरे-धीरे आई हममें चेतना, हाँ जी
धीरे-धीरे आई हममें चेतना
अब रुकेंगे न, अब रुकेंगे न
किसी भी हाल, आ गई चेतना
अब पूछेंगे हम, अब पूछेंगे हम
खूब सवाल, आ गई चेतना
कौन साथी कौन दुश्मन है,
हाँ जी, कौन साथी कौन दुश्मन है
अब करेंगे हम, अब करेंगे
हरेक की पहचान, आ गई चेतना
ओ पंडित, ओ मुल्लाजी,
सुनो जत्थेदारों, नेताजी,
हाँ जी, अब गलेगी न, अब गलेगी न
आपकी दाल, आ गई चेतना
क्या हमारा फर्ज़ है और क्या हमारा धर्म है,
हाँ जी, इसका फ़ैसला
करेंगे न आप, आ गई चेतना।
आधा भारत नारी है, जब आधा भारती नारी है,
हाँ जी वो बढ़ेगी तो, वो बढ़ेगी तो
आगे बढ़े देश, आ गई चेतना
स्वर्ग का चक्कर छोड़कर,
हाँ जी, जन्नत का चक्कर छोड़कर
जमीं पर लायेंगे, जमीं पर लायेंगे नया संसार,
आ गई चेतना
धीरे-धीरे आई हमें चेतना, हाँ जी......''

जलसा समाप्त हुआ, जगह-जगह से आई औरतें निकल पड़ीं, अपने-अपने घर के लिए। मैं भी अपने घर के लिए रवाना हुई। मेरे साथ थीं मेरी बेटी लीला, और मेरे पड़ोस की मौसी। दोनों दिनभर मस्त रहीं थीं। दोस्तियाँ भी बना ली थीं, गाने भी गाये थे। लौटते समय

मौसी बोलीं, ''बहुत लम्बी यात्रा है बेटी, ये महिला आंदोलन की! हम तुम लड़ रहे हैं, और कल लीला भी शामिल हो जाएगी! ज़माना खराब है न!'' लीला तो कोई धुन गुनगुना रही थी! मैंने कहा-''हाँ, मौसी!''

रोज़ यह अहसास गहराता जा रहा है - कि यदि अपनी बात संजोकर सामने नहीं रखेंगे, तो यह दुनिया अलग ही गति से बदलती जाएगी। महिलाओं की प्राथमिकताओं को नज़र-अंदाज़ करते हुए, अस्तित्व को रौंधते हुए। अपने लिए यह दुनिया बदलनी है - और अपनी बहनों के लिए, अपनी बेटियों के लिए, आनेवाली पीढ़ियों के लिए। सच में, यह अहसास गहरा होता जा रहा है।

व्यक्तिगत संघर्ष भी करने हैं, और सामूहिक भी। निजी ज़िंदगी और नारीवादी संघर्षों का जुड़ाव पक्का है। अपनी परिभाषाएँ गढ़ते हुए हम ढेर सारे जोखिम उठाते हैं। कभी परिवार से नाता ही टूट जाता है तो कभी पुलिस या अफ़सरों से टक्कर लेनी पड़ती है। तरह-तरह के कटाक्ष सहने पड़ते हैं।

कैसे संतुलन बनाए रखें? भँवर के बीच अपनी नैया सही रास्ते पर रखें, तो कैसे? ज़िम्मेदारियों का तो कोई अंत ही नहीं है। और अधिकारों के लिए हर स्तर पर लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

क्या बनेगा इस बिटिया का? - अचानक अपनी पीढ़ी की महिलाओं से मेरा मन फिसलकर पहुँच गया अगली पीढ़ी तक। विचलित मन, परन्तु कहीं न कहीं अद्‌भुत ताकत, प्रेरणा और हिम्मत से लबालब।......

ऐसी ही रहेगी हमारी बेटियों की दुनिया - कुछ आज से बेहतर, तो कहीं अधिक कड़वी। परन्तु मन में इतना तो विश्वास है कि हमारी लड़ाई निरर्थक नहीं। हमारी हिम्मत आगे तक पहुँचेगी, नए रास्ते गढ़े जाएँगे। सैकड़ों सपने साकार होंगे। इस आंदोलन की गहराइयाँ अनंत हैं। एक सूक्ष्म संवेदनशीलता, तीखी विचार-शक्ति व व्यापक इन्सानियत तक फैली हुई हैं इसकी जड़े। इन जड़ों को यदि हम मज़बूत रख पाये, तो बाकी दुनिया हरी-भरी रह पाएगी, दिलो-दिमाग में नई चेतना फूलेगी, फलेगी। यह विश्वास आपको हमको सबको जोड़े रखता है।

विशेष पाठ्य सामग्री

1. **महिलाएँ और स्वराज्य** : आशारानी व्होरा, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1988
2. **नुक्कड़ नुक्कड़ आंगन आंगन** : जागोरी कलेक्टिव, दिल्ली, 1987
3. **कुमाऊँनी स्त्रियों की साहस यात्रा-एक संक्षिप्त इतिहास** : उत्तर साकेत प्रिंटिस प्रैस, बागेश्वर, उत्तरांचल, 1987
4. **भूमण्डलीकरण में महिलाएँ और श्रम** : जया मेहता, दिशा संवाद, हौशंगाबाद, मध्यप्रदेश, 2000
5. **औरत** : छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी, छोटानागपुर युवा चेतना प्रकाशन, बिहार (कोई तिथि नहीं छपी)
6. **क्रांतिकारी महिलाएँ** : आशा रानी व्होरा, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1986
7. **संरक्षण या विनाश** : सरला देवी, ज्ञानोदय प्रकाशन, नैनीताल, 1981
8. **सावित्रीबाई फुले** : एम. जी माली, प्रकाशन, विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली
9. **महिला एवम् भूमि अधिकार** : भारती, उत्तरप्रदेश भूमि सुधार एवं श्रम अधिकार अभियान समिति, 2000
10. **रानी लक्ष्मीबाई** : वृन्दावनलाल वर्मा, नैशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1990
11. **भारत के नारा रत्न** : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1983
12. **किनारों पर उगती पहचान** : माया, शांति, आभा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1996
13. **द हिस्ट्री ऑफ डूइंग** : राधा कुमार, काली फ़ॉर विमिन, 1993
14. **कौम्यूनिस्ट्स इन इण्डियन विमिंज़ मूवमेंट** : रेणु चक्रवर्ती, पी.पी.एच. 1980
15. **द इशूज़ ऐट स्टेक** : नंदिता शाह और नंदिता गांधी, काली फ्रॉर विमिन, 1982
16. **पंचायती राज इन ऐक्शन : विमिनज़ रोल,** सुशीला कौशिक, एफ.ई.एस., 1996
17. **डायरेक्टरी आफ़ औरगनाइज़ेशंस वर्किंग ऑन जेन्डर इशूज़** : लोकायन और बेइचिंग समन्वय इकाई, 1996
18. **विमिन राइटिंग इन इण्डिया** : सूजी थारु और के. ललिता (सम्पादन) ओ.यू.पी., 1995
19. **अ स्पेस विदिन द स्ट्रगल** : इलीना सेन (सम्पदान), काली फ़ॉर विमिन, 1990
20. **रीकास्टिंग विमिन** : कुमकुम संगारी और सुदेश वैद, काली फ़ॉर विमिन, 1989

लेखिका दीप्ति प्रिया महरोत्रा ने दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति शास्त्र विभाग से महिला आंदोलन की सोच व गतिविधियों पर पी.एच.डी. की है। वे इन विषयों पर शोध और लेखन में रत हैं।